T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

…ाग्निय-संस्कृत-परिषत्प्रकाशस्य प्रथमोन्मेषः

…हरिश्चन्द्रोपाख्यानम्

पं० महादेव पाण्डेयः

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

एम. ए. तथा शास्त्री आदि परीक्षाओं में निर्धारित पाठ्य-ग्रन्थ

ऐतरेय ब्राह्मणस्य

हरिश्चन्द्रोपाख्यानम्

लघुदीपकतिलकालङ्कृतम्

व्याख्याता—

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः पं० श्रीमहादेव पाण्डेयः

कवितार्किक चक्रवर्ती

प्रकाशकः—

आचार्य श्री पं० नागेश उपाध्यायः

एम्० ए०, ज्योतिषी

भद्रवनी, काशी।

वै० सं० २००३ काशी। १९४६ मूल्यम्— सपादरुप्यकम्

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

प्राक्कथन

यह हरिश्चन्द्रोपाख्यान लघुदीपक नामक टीका के साथ प्रकाशित किया जा रहा है। यह उपाख्यान ऋग्वेद के अन्तर्गत ऐतरेय ब्राह्मण का तेईसवाँ अध्याय है। वैदिक साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थों का बहुत ऊँचा स्थान है। इसका कारण यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में हिन्दुओं के असंख्य, अमूल्य उपदेश रत्न भरे पड़े हैं। तत्रापि ऐतरेय ब्राह्मण में धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्थायें स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की गई हैं। अतः इतर ब्राह्मण ग्रन्थों से ऐतरेय ब्राह्मण का विशिष्ट स्थान है। उसमें भी शुनःशेपाख्यान नाम से प्रसिद्ध हरिश्चन्द्रोपाख्यान ज्वलन्त असाधारण रत्न है। इस उपाख्यान के प्रयोजन पुत्रलाभ, पुत्र की महिमा, गार्हस्थ्य जीवन, जाति व्यवस्था इत्यादि हैं जो मन्त्रों से स्पष्ट प्रतीत होते हैं। इसका अध्ययनाध्यापन हिन्दू समाज में बराबर चला आता है। अतः इसको विशिष्ट फलों का साधन समझकर अधिकारियों-ने पाठ्य ग्रन्थों में निवेशित किया है। यद्यपि यह हरिश्चन्द्रोपाख्यान वैदिक साहित्य की शैली में सरल है और प्रातः स्मरणीय सायणाचार्य ज़ी ने इसके ऊपर भाष्य भी किया है तथापि वह भाष्य गम्भीर और विस्तृत है। उसके आधार पर मन्त्रों का प्रतिपद व्याख्यान करना विद्यार्थियों के लिये बहुत कठिन हो जाता है और संस्कृत भाषा में कम योग्यता रखने वालों के लिये भी क्लिष्ट सा प्रतीत होता है। अतः इसको दूर करने के लिए काशी हिन्दूविश्वविद्यालय के साहित्य विभाग के प्रधानाध्यक्ष कवितार्किक चक्रवर्ती हमारे पूज्य गुरु पं० महादेव शास्त्री जी ने लघुदीपक टीका करके मन्त्रों का प्रतिपद व्याख्यान किया है;

T

और भावार्थ का भी यत्र-तत्र संक्षेप में वर्णन किया है। सर्वथा यह व्याख्यान प्रशंसनीय है । इसमें स्थालीपुलाकन्याय से एक स्थल का मैं यहाँ उल्लेख करना उचित समझता हूँ। जैसे—"किन्नुमलम् किमजिनम् किमुश्मश्रूणि किम् तपः, पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं स वै लोकोऽवदाऽवदः इति (मन्त्र ५)। इस मन्त्र का व्याख्यान करते हुए सायणाचार्य जी ने ब्रह्मचारी गृहस्थ, वानप्रस्थ संन्यासी चार आश्रमों का मलादि शब्दों के स्वारस्य से शब्द विस्तार पूर्वक प्रतिपादन किया है। लेकिन लघुदीपक में शब्द प्रपञ्च को छोड़कर थोड़े शब्दों से पूर्वोक्त चारों आश्रमों का निरूपण किया है। "मलरूपाभ्याम् शुक्रशोणिताभ्याम् संयोगात् मलशब्देन गार्हस्थ्यम् विवक्षितम्" इत्यादि। टीका में ऐसे बहुत स्थल हैं जो उल्लेख करने के योग्य हैं। तथापि विस्तार के भय से उल्लेख नहीं किया गया है। मेरा यह विश्वास है कि गुरू जी ने टीका में शब्द विस्तार का आदर न करते हुए संक्षेप से अर्थ को स्पष्ट करने के लिए प्रयत्न किया है। इसलिए टीका की लघुदीपक संज्ञा अन्वर्थ संज्ञा है। अतः मैं समझता हूँ समस्त छात्र वर्ग पूज्य गुरूजी के अधमर्ण हैं।

श्रीमान् वालकराम जी ब्रह्मचारी साहित्य शास्त्री अनवरत संस्कृत भाषा की अभिवृद्धि के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। आप बड़े सज्जन हैं। आपने इस ग्रन्थ का संमुद्रण करने के लिए आर्थिक व्यवस्था का पूरा भार लिया हैं। आपको मैं हृदय से असंख्य धन्यवाद देता हूँ। मैं आशा करता हूँ इस ग्रन्थ को पठन-पाठन में लाकर विद्यार्थिगण और संस्कृत प्रेमी सज्जन अपना-अपना अपेक्षित इष्ट पूर्ण किया करेंगे।

अ. सुब्रह्मण्य शास्त्री.
मीमांसारत्न, मीमांसावेदान्ताचार्य,
मीमांसाध्यापक का० हि० वि० वि०

T

आमुख

ब्राह्मणः—वेद के तीन विभाग हैं—(१) संहिता (२) ब्राह्मण (३) आरण्यक। मंत्र-संहति को संहिता कहते हैं। देव–विशेष के स्तवनार्थ प्रयुक्त अर्थस्मारक वाक्य मंत्र कहलाता है। संहिता का विवेचनात्मक या तार्किक श्रुतिभाष्य तथा यागानुष्ठान का विशद वर्णन ब्राह्मणों का विषय है। वानप्रस्थाश्रम से सम्बद्ध क्रिया–कलाप का उल्लेख एवं यज्ञ-विधान के दार्शनिक तत्त्वों का विवेचन आरण्यकों में उपलब्ध होता है। ब्राह्मणों का उपसंहार 'आरण्यक और उपनिषद हैं। संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक कर्मकाण्डप्रधान हैं और उपनिषद ज्ञानकाण्डप्रधान है। ब्राह्मण ग्रन्थ क्रियार्थ हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ मंत्रों का सामान्य अर्थ प्रतिपादित कर उनके विनियोग या शास्त्रीय प्रयोग का समुचित अवसर-निर्देश करते हैं। यज्ञ-क्रिया के विभिन्न अंगों का विवेचन मुख्य होने के कारण विनियोग–प्रतिपादन के साथ साथ स्थान, काल, पुरोहित, अग्नि, स्तोत्र, बलि, देवता, पात्र, दक्षिणा, प्रायश्चित, पौरोहित्य कर्म के अन्य विवरण, सामाजिक अवस्था, पौराणिक गाथा, दैनिक व्यवहार और जीवन सम्बन्धी सर्वसाधारण उपाख्यानों आदि का समावेश ब्राह्मण ग्रन्थोंमें रहता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में देवों के पारस्परिक व्यवहार, उनका आराधक-मानवों के साथ सम्बन्ध तथा ऐतिहासिक घटनाओं आदि के सजीव वृत्तान्त हैं।

ऐतरेय ब्राह्मणः—यह ऋग्वेद की ऐतरेय-शाखा का है। यह चालीस अध्यायों में विभक्त है तथा अध्यायों का विभाजन आठ पञ्चकों में किया गया है। सोम-याग इसका प्रधान विषय है। आरम्भ के अंश (अध्याय १–२४) में सोमयाग के अवसर पर होता और पुरोहित के कृत्यों का निर्देश है। बीच के विभाग में (अ० २५–३०) अग्निहोत्र का विधान तथा होता के सहायकों का कर्तव्य वर्णित है। इसे प्रारम्भांश का परिशिष्ट कह सकते हैं। पशु और राजसूय यज्ञ का वर्णन अन्तिम अंश (अ० ३१–४०) में है।

T

राजसूय का विधान जिस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में प्रस्तुत किया गया है वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। यह ऐतरेय की निजी विशेषता है। संक्षिप्त रूप से आश्वलायन श्रौत सूत्र में मूल प्रकारों की पुनरावृत्ति तथा शांखायन श्रौत सूत्र में शुनःशेप के आख्यान की समानान्तर कथा का उल्लेख मिलता है। अन्यथा अन्य ग्रन्थ राजसूय के विषय में मौन हैं, तथा राजा के पेय (सोम) बनाने की विधि, राजा के अभिषेक की रीति और ऐसे मंत्र जिनके द्वारा राजा को सफलता मिले, इनका कुछ भी उल्लेख नहीं है। राजसूय के उन सामान्य लक्षणों का (जिनकी चर्चा शांखायन में है) ऐतरेय में कोई विवेचन नहीं है। अश्वमेध से सम्बद्ध होने के कारण भी ऐतरेय ब्राह्मण का निरालापन प्रकट होता है।

शुनःशेप की कथाः—निस्संदेह ऐतरेय ब्राह्मण की सबसे प्रधान और रुचिर कथा शुनःशेप का आख्यान है। इस आख्यान की रमणीयता का एक प्रमाण तो यही है कि यह ऋग्वेद-कालसे लेकर आजतक के लेखकों की भाषा के विभिन्न ढाँचों में ढल चुका है। आधुनिक-काल के प्रतिनिधि-हिन्दी-कवि स्व० 'प्रसाद' जी के 'वरुणालय' पर भी तो इसी की छाप है। इस कथा को देखकर कुछ पाश्चात्य और अन्य समालोचकों का यह मत है कि किसी न किसी समय यज्ञों में मनुष्यों का बलिदान होता था। अब प्रश्न है कि भारत में नरमेध प्रथा का क्या ऐतिहासिक तथ्य भी है ? यदि पुरुषमेध प्रचलित रहता तो यज्ञ-विधान के अन्तर्गत इसका भी समावेश एक आवश्यक अंग मानकर आचार्यों ने किया होता; पर जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों से स्पष्ट है, पुनीत यज्ञकृत्यों में इन अमानुषिक और बर्बर कृत्यों के प्रति एक विवक्षित उदासीनता है। कात्यायन श्रौत सूत्र में जो इस कथा का उल्लेख है वह ऐतरेय ही से उद्धृत किया गया है। शांखायन श्रौत सूत्र के पुरुषमेध में जो उल्लेख मिलता है वह कथा भी राजसूय-प्रकरण में निर्दिष्ट कथा का केवल एक भाग ही है। पुरुषमेध में उसका उल्लेख मात्र ही मनुष्य-बलिदान की प्रचलन का पक्का प्रमाण नहीं माना जा सकता, क्योंकि शांखायन और वैतान सूत्रों में पुरुषमेध

T

का विवेचन केवल सिद्धान्त या उपपत्ति ही कहा जा सकता है। वास्तविक बलिदान उससे प्रमाणित नहीं हो सकता। इस प्रकार की कल्पना को वास्तविक ध्येय का आधार नहीं माना जा सकता।

प्रस्तुत उपाख्यान को पढ़ने से भी यह लक्षित होता है कि इस प्रकार की नरबलि अभीष्ट नहीं है तथा उसे यह प्रोत्साहित भी नहीं करता। इस कथा में स्पष्टतया विवेचित है कि शुनःशेप का बलिदान नहीं हुआ और अजीगर्त जो वध करने के लिए उद्यत भी था एक प्रकार से दण्ड का भागी बना। अपने पुत्र द्वारा ही भर्त्सित हुआ तथा अपने अस्तुत्य कृत्यों के दण्डस्वरूप पुत्र-सुख से वंचित हुआ। केवल इसी से कि अजीगर्त बलि-कृत्य-सम्पादन के लिए प्रस्तुत था, यह नहीं कहा जा सकता कि उस युग में पुरुषमेध की भी प्रचलन थी। राजकीय-संस्कार या अर्पण में यह बात कदाचित होती भी हो तो पुरोहित की आन्तरिक पुनीत-भावना इसे ग्राह्य नहीं समझती थी। अपने इस वैमत्य का वर्णन आख्यान के द्वारा पुरोधा करता था जो राजसूय का एक अङ्ग होता था तथा उससे यह निष्कर्ष निकलता था कि इस प्रकार का नरमेध अवाञ्छनीय है। कतिपय समालोचकों की एक और अजीब सूझ यह है कि राजाओं की प्रथम-संतति का बलिदान अभिषेक के अवसर पर होता था और शुनःशेप के आख्यान से उसका अवसान विदित होता है। पर इस प्रकार की काल्पनिकता का तो कोई दृढ़ आधार ही नहीं है। सारांश यह कि इस आख्यान से नरबलि का विधि-पक्ष उतना स्पष्ट नहीं जितना निषेध-पक्ष।

इस उपाख्यान में दो कहानियाँ घुल-मिल गई हैं, दो शिक्षाप्रद चित्र चित्रित हैं या यों कहा जा सकता है कि दो नाटकीय अंग अंकित हैं। एक में पुत्र-प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा, उसकी रक्षा अपने प्राण की बाजी लगाकर भी करना; तथा दूसरे में पुत्र को घास-भूसे के भाव बेचना और उससे संतुष्ट न होकर जान का गाहक भी होना, दिखलाया गया है।

T

राजा हरिश्चन्द्र ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा न कर वरुण को धोखा दिया है। मनुष्य अपनी बुद्धि से कहाँ तक किसी को धोखा दे सकता है और वह भी देवों को ? हरिश्चन्द्र अन्ततोगत्वा वरुण के पाश में फँस ही गये। राजा हरिश्चन्द्र के व्यवहार से यह लक्षित होता है कि संतान-मोह या प्रेम से (जो पशु-पक्षी सब में पाया जाता है) पिता अपने जीवन का उत्सर्ग कर सकता है पर संतति को अपने सामने मरते देखने की कल्पना भी उसे असह्य हो जाती है। अतएव उसकी रक्षा के लिए अगर प्रतिज्ञा-पालन न कर प्रवञ्चना का भी आश्रय ले तो वह कोई महान् अपराध नहीं है। अगर मनुष्य मोह ममता या अज्ञानवश धोखा देने की भूल कर सकता है तो देवता उसे क्षमा प्रदान कर सकता है।

अजीगर्त अपना कार्य साधने के लिए सन्नद्ध था। मझले लड़के के प्रति माता-पिता का अनुराग विशेष नहीं दिखाई देता है। बाप बड़े को बाँट लेता है, माता छोटे को छाँट लेती है। उसे तो जग-पिता की अकारण-करुणा ही पोसती है। 'ऐसे अवसर पर मझले का माँ-बाप ईश्वर होता है' इस प्रकार का निष्कर्ष घरेलू कहानियों का होता है।अजीगर्त के कृत्यों से यह स्पष्ट है कि इस पापी-पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए मनुष्य पुत्र-विक्रय ऐसे निन्द्य तथा दारुण कर्म भी कर बैठता है।

इन दो नाटकीय कथाओं में:—एक का पुरस्कार अभीप्सित की प्राप्ति और दूसरे का दण्ड पुत्र से हाथ धोकर हाथ-मलना। विश्वामित्र की प्रकरी आज्ञा-पालन की महत्ता की ओर संकेत करती हुई दो नाटकीय अंशों का समन्वय करती है। यतः ब्राह्मण यज्ञार्थ-मंत्रार्थ-विषय प्रधान ग्रन्थ हैं अतः कृतकृत्य की महत्ता की ओर लक्ष्यकर यज्ञ से निस्संतान को संतान, रुग्ण को रोग-विमुक्त, और भय-विह्वल को भय-मुक्त होना इस आख्यान में दिखलाया गया है। पुराण-प्रसिद्ध विश्वामित्र और वशिष्ठ के चिरकालीन विरोध को केवल विरोधाभास प्रदर्शित

T

करते हुए एक ही यज्ञ में एक को ब्रह्मा और दूसरे को होता बनाया गया है।

साहित्यिक महत्वः—इस आख्यान की भाषा वैदिक और लौकिक संस्कृत के मध्य की है। एक ओर जहाँ 'तन्द्रयते' 'शेरे' 'अदशुः' 'निह्ववे', 'शृणोतन' 'अकर्त' 'विघ्नसि' 'इच्छध्वम्' इत्यादि पुरातन-रूप मिलते हैं वहीं 'आमन्त्रयामास' भी दिखाई देता है। 'लेट्' लकार के प्रयोग नहीं मिलते। भाषा-वैज्ञानिक भी इस आख्यान से कुछ मसाला इकट्ठा कर सकता है। 'जायते अस्यामिति जाया' इत्यादि व्युत्पत्ति (Etimology) इसमें प्राप्त होती है। इस आख्यान में ही सर्वप्रथम चारों युगों के नाम आये हैं। यद्यपि कई विदेशी आलोचकों के मत से ये शब्द द्यूत के उपकरण (दाँव और गढ़) के रूप में गृहीत हैं और 'मृच्छकटिक' (अं० २ श्लोक ९) में भी ये इसी अर्थ में प्रयुक्त हैं तथापि सायण इसे युग-परक ही मानते हैं जो प्रसंग के अनुरोध से सर्वथा समीचीन है। 'कपिल' का नाम जो आलोचकों के मत से 'श्वेताश्वतर' उपनिषद् में सर्वप्रथम आया है वह वस्तुतः प्राथम्येन इसी आख्यान में (जैसा कि "कापिलेय" से स्पष्ट है) मिलता है। इस आख्यान के गद्य और पद्य दोनों में कवित्व की झलक है। "चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादु .." यह श्लोक केवल एक सार्वभौम या विश्वजनीन तथ्य का ही निर्देश नहीं करता अपितु अपने छोटे से कलेवर में काव्य-कला की पर्याप्त सामग्री लपेटे हुए है। गद्य और पद्य के मिश्रण को देखते हुए इस आख्यान को 'चम्पू-काव्य' का आदि-स्रोत कहा जा सकता है। यह आख्यान अनेक आख्यानों को दृष्टि प्रदान करता है जिसकी झलक अवांतरकालीन जातकादिकों में मिलती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यह आख्यान कम महत्व का नहीं है। मनोविज्ञान के सामने 'क्षुधा' और 'यौवन' की वासना में कौन प्रधान है यह एक विवादग्रस्त प्रश्न है, और विविध लेखकों ने इसका भिन्न-रुचि-समाधान किया है। पर इस कथा से यह स्पष्ट है कि क्षुधा

T

की वासना तीव्रतर है। भारतीय वाङ्मय के प्रत्येक अवयव में आध्यात्मिकता की भी एक दीव्य-दीप्ति दीख पड़ती है। यह उपाख्यान एक ओर जहाँ राजा को विजय और निस्संतान को अपत्यदान की घोषणा करता है वहाँ हृदय की विशालता और आत्मा की उच्चता का भी निर्देश करता है। शरीर नश्वर है इसलिए उसकी आसानी से आहुति दी जा सकती है पर साथ ही आत्मा अमर है; इसकी रक्षा के लिए सूर्य और चन्द्र, वायु और अग्नि, इन्द्र और वरुण सभी तत्पर हैं।

भूख से प्रताड़ित एक पिता यदि अपने पुत्र की हत्या के लिए भी उद्यत हो सकता है तो वहीं एक दूसरा पिता किसी दूसरे के पुत्र को अपने पुत्रों का शिरमौर बनाने की उच्चता भी दिखा सकता है। संक्षेप में यह आख्यान मोह और कर्तव्य, भाग्य और पौरुष, जीवन की नश्वरता और अमरता सबका एक समन्वित रूप प्रदान करता है जिसमें सविशेष मोह के घात-प्रतिघातों की करुणा में परिणति दिखाई गई है।

सामाजिक जीवन के विभिन्न अंगों का निर्देश भी इस उपाख्यान में है। राजपरिवार के हरिश्चन्द्र, ब्राह्मण वर्ग के अमात्य और पुरोधा तथा वनवासी अजीगर्त आदि तीन श्रेणियों के प्रतिनिधि हैं। पारिवारिक जीवन में जहाँ दुहिता दुखदायिनी है वहीं स्त्री सखा है। पत्नी को सखा के रूप में "गृहिणी सचिवः" कहकर महाकवि कालिदास ने भी स्वीकार किया है और भवभूति भी इसी विचार के पोषक हैं। गोधन की प्रधानता भी इस उपाख्यान से लक्षित होती है; विवाह के लिए उन्हें ही ("पशवो विवाहः" कहकर) आवश्यक माना गया है। 'शतगुः' 'सहस्रगुः' की संज्ञा आज के 'लखपतियों' 'करोड़पतियों' की सी लगती है। 'सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति' की पुष्टि भी 'रूपं हिरण्यम्' से होती है। कामिनी-काञ्चन यहाँ भी पहले से जमे हुए हैं।

T

भारतीय समाज की आधुनिक दुरवस्था एवं हिन्दू समाज के उथल-पुथल के अवसर पर पुरातन गौरव को उपस्थित करना आवश्यक है। आचार्य-चरण का यह प्रयत्न इसी उद्देश्य से प्रेरित है। इस गौरव-ग्रन्थ से धार्मिक जनता ही नहीं अनुप्राणित होगी अपितु समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के विद्यार्थी तथा सहृदय-समुदाय भी कुछ सामग्री पा सकेगा इसमें संदेह नहीं।

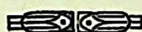
रमाशङ्कर शास्त्री
बी. ए. विशारद
(परिषत्सदस्य)

T

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

ऐतरेयब्राह्मणे
प्रथमे खण्डे



त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

अथ हरिश्चन्द्रोपाख्यानम् ।

संविदानन्दसद्रूपौ करुणारुणलोचनौ ।
शृङ्गारसागरोद्वेललीलावन्तर्निभालये ॥ १ ॥
ऐतरेयब्राह्मणस्य ऋग्वेदपरिनिष्ठितेः ।
अध्यायेच त्रयस्त्रिंशे शौनःशेपेतिनामनि ॥ २ ॥
हरिश्चन्द्रकथा तत्र कथिता पापनाशनी ।
बहुपुत्रप्रदात्री च श्रव्या श्रद्धाधनैर्जनैः ॥ ३ ॥
तत्र भाष्यं समालम्ब्य सायणीयं प्रयत्नतः ।
मङ्गलं स्नेहसम्पूर्णं सुदशं महसोज्ज्वलम् ॥ ४ ॥
काठिन्यध्वान्तसंछन्नपदार्थद्योतनोद्यतम् ।
लघुदीपकमुद्भाव्य सतां मोदं वितन्महे ॥

हरिश्चन्द्रो ह वैधस ऐक्ष्वाको राजाऽपुत्र आस । तस्य ह शतं जाया बभूवुः । तासु पुत्रं न लेभे । तस्य ह पर्वतनारदौ गृह ऊषतुः । स ह नारदं पप्रच्छ, इति ।

T

हरिश्चन्द्रो नामात्र राजर्षिर्बोध्यः 'प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी' इति पाणिनिसूत्रात्। सच वैधसः, वेधसो नृपतेः अपत्यं पुमान् ऐक्ष्वाकः इक्ष्वाकुगोत्रोत्पन्नो राजा अपुत्रः पुत्ररहित आस आसीत्। तस्य राज्ञः। ह शब्द ऐतिह्यद्योतकः। शतं शतसंख्याका जायाः स्त्रियः बभूवुः। तासु मध्ये एकस्यामपि पुत्रं न लेभे प्राप। तस्य गृहे पर्वतनारदौ ऋषी ऊषतुः निवासं चक्रतुः। स राजा नारदं पप्रच्छ।

गाथया प्रश्नं दर्शयति—

यं न्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न॥
किंस्वित् पुत्रेण विन्दते तन्म आचक्ष्व नारद। इति।

ये देवमनुष्यादयः विजानन्ति विवेकज्ञानवन्तः, ये च पश्वादयः न विजानन्ति विवेकज्ञानरहिताः। ते सर्वे एव नु शीघ्रं यम् इमं पुत्रम् इच्छन्ति सर्वे यत्पुत्राभिलाषिणो भवन्तीत्यर्थः। तेन पुत्रेण किं स्वित् किंनाम फलं पिता विन्दते लभते। हे नारद तत् फलं मे मह्यम् आचक्ष्व कथय। इति राज्ञः प्रश्नः।

स एकया पृष्टो दशभिः प्रत्युवाच, इति।

स नारदः एकया गाथया गाथानामच्छन्दसा पृष्टः सन् दशभिः गाथाभिः प्रत्युवाच उत्तरं ददौ।

तत्र प्रथमा गाथा—

ऋणमस्मिन् संनयत्यमृतत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्॥

पिता अस्मिन् पुत्रे ऋणं लौकिकं यत् कुतश्चित् पित्रा गृहीतं यच्च वैदिकं वेदाध्ययन यज्ञ श्राद्धादिरूपं तत् संनयति सम्यग् अवस्थापयति अर्थात् पुत्रः सर्वस्माद् ऋणात् पितरं मोचयिष्यति। अतएव ऋणेभ्यो मुक्तः अमृतत्वं मोक्षं गच्छति प्राप्नोति। चेद् यदि जातस्य उत्पन्नस्य जीवतः पुत्रस्य मुखं पश्येत्। अत्र प्रमाणानि अन्यत्र द्रष्टव्यानि।

T

द्वितीया—

यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि ।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः ॥

पृथिव्यां यावन्तो भोगाः सस्यनिवासादयः, जातवेदसि अग्नौ यावन्तो भोगा दहनपचनादयः, अप्सु जले यावन्तो भोगाः स्नानपानादयः ततः तेभ्यः प्राणिनां सर्वेभ्यो भोगेभ्यः भूयान् अधिकः पितुः पुत्रे भोगो भवति। तदुक्तं– 'पुत्रोत्पत्तिविपत्तिभ्यां नापरं सुखदुःखयोः' इति ।

तृतीया—

शश्वत् पुत्रेण पितरोऽत्यायन् बहुलं तमः ।
आत्मा हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी ॥

पितर उत्पन्नेन पुत्रेण शश्वत् सर्वदा बहुलम् अधिकाधिकं तमः कष्टम् ऐहिकं पारलौकिकं च अत्यायन् अतिक्रामन्ति ।
तथा च बौधायनः—

'पुदिति नरकस्याख्या दुःखं च नरकं विदुः ।
पुत्रस्त्राणात्ततः पुत्रमिहेच्छन्ति परत्र च ॥'

अपिच पिता आत्मनः स्वस्मात् आत्मा पुत्ररूपेण स्वयमेव जज्ञे उत्पन्नः हि यस्मात् कारणात् तस्माद् स पुत्र इरावती अन्नयुक्ता अतितारिणी नद्यादितरणहेतुर्नौका अस्ति । अर्थात् नौका यथा नदीं तरतां पुरुषाणां दुःखं दूरीकरोति तथा पुत्रः स्वाभिन्नं पितरं सर्वस्माद् दुःखात् तारयति ॥

चतुर्थी—

किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः ।
पुत्रं ब्रह्माण इच्छध्वं सवै लोकोऽवदद्वदः ॥

T

मलं शुक्रशोणितसम्बन्धाद् गृहस्थाश्रमो मलपदार्थः स किंनु किंनाम सुखं जनयिष्यति। अजिनं मृगचर्मसंयोगी ब्रह्मचर्याश्रमः किं सुखं करिष्यति। श्मश्रूणि क्षौरकर्माभावाद् वर्धितश्मश्रुसंयुक्तं वानप्रस्थ्यम् कस्य सुखस्य जनकं भविष्यति। तपः इन्द्रियनियम-सहितः सन्न्यासः किं सुखं विधास्यति। सर्वे आश्रमास्तुच्छा इत्यर्थः। ब्रह्माणः हे ब्राह्मण-क्षत्रियादयः सदस्या यूयं सर्वे पुत्रम् इच्छध्वम् अपूर्वसुखहेतुत्वात्। सवै पुत्र एव अवदावदः अवदेन वक्तुमयोग्येन निन्दावाक्येन अवदः अकथनीयः अनिन्द्यो लोकः। सर्वाश्रमेभ्योऽप्याधिक्यात्पुत्रेच्छा सर्वैः कर्त्तव्येति भावः।

पञ्चमी—

अन्नं ह प्राणः शरणं ह वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता ज्योतिर्ह पुत्रः परमे व्योमन्॥

अन्नादिकं सर्वं सुखजनकत्वेन प्रसिद्धम्। तथा हि अन्नं गोधूमादिकं प्राणस्थितिहेतुतया प्राणः आयुर्घृतमितिवत्, वासः शीतादिरक्षकत्वाद् शरणं भवनम्, हिरण्यं सुवर्णं कर्णाभरणादिरूपं रूपस्य सौन्दर्यस्य सम्पादकत्वाद् रूपम्, पशवो गवाश्वादयः विवाहनिर्वाहकत्वाद् विवाहाः, जाया पत्नी गार्हस्थे अत्यन्तान्तरंग-त्वात् सखा सुहृत्। एवमेते सुखकारणतया प्रसिद्धा अपि तत्तत्काले स्वल्पमेव सुखं जनयन्ति। दुहिता कदत्ता सुखं यास्यतीति चिन्ता-जनकत्वात् कृपणं कार्पण्यस्य दैन्यस्य हेतुः। ह शब्दस्त्वर्थे। परन्तु पुत्रः ज्योतिः दुःखरूपतमोनाशकत्वेन प्रकाशस्वरूपः पितरं परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योमनि (छान्दसो विभक्तिलोपः) आकाशे परब्रह्मणि अवस्थापयति। आकाशस्तल्लिंगादित्यनेन व्यासकृत-वेदान्तसूत्रेण आकाशव्योमादिपदानां ब्रह्मार्थत्वेन प्रतिपादनात्। पुत्रः ब्रह्म प्रापयति पितरमितितु 'अमृतत्वं च गच्छति' इत्यत्र पूर्वं प्रतिपादितम्।

T

षष्ठी—

पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम् ।
तस्यां पुनर्नवोभूत्वा दशमे मासि जायते ॥

पत्युः द्वौ आकारौ । एकः वर्त्तमानपुरुषाकारः, द्वितीयः शुक्ररूपेण गर्भाकारः। जायाया अपि द्वौ आकारौ । एकः पत्युः वर्त्तमानाकारं प्रति पत्नी, अपरः गर्भरूपं प्रति माता। तथा च सः वर्त्तमानः पतिः रेतोरूपेण गर्भो भूत्वा जायां पूर्वं पत्नीं भविष्ये मातरं भवन्तीं प्रविशति। तस्यां मातरि पुनः नवः जरठोऽपि पुनः नूतनबालकः भूत्वा दशमे मासि जायते उत्पन्नः भवति । अर्थात् पुत्रः पितुर्भिन्नः न भवति।

सप्तमी—

तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।
आभूतिरेषा भूतिर्बीजमेतन्निधीयते ॥

यद् यस्मात् कारणात् पतिः अस्यां गर्भवत्यां पुनः स्वस्या मातुः एकदा उत्पन्नः पुनः पुत्ररूपेण जायते तत् तस्मात् जाया पत्नी जाया भवति जायाशब्दार्थेन समन्विता भवति, जायते अस्यामिति जाया-पदव्युत्पत्तेः । किंच एषा पत्नी भूतिः, भवति अस्यां पुत्र-रूपेण पतिः अतो भूतिः, आभूतिश्च आगत्य रेतःस्वरूपेण पतिः पुत्ररूपेण उत्पद्यते इति आभूतिः। एतद् एतस्यां स्त्रियां बीजं रेतः निधीयते स्थाप्यते तस्माद् एतेशब्दाः साधु सिध्यन्ति।

अष्टमी—

देवाश्चैतामृषयश्च तेजः समभरन्महत् ।
देवा मनुष्यानब्रुवन्नेषा वो जननी पुनः ॥

एताम् एतस्यां स्त्रियां देवाश्च ऋषयश्च महत् तेजः सारभूतं रेतः समभरन् पुत्रजननाय स्थापितवन्तः। ततः देवाः स्वयमेव संपाद्य

T.

मनुष्यान् अब्रुवन् कथयामासुः—एषा स्त्री वर्त्तमानावस्थायां जाया वः युष्माकं पुत्ररूपे जन्मनि जननी माता भविष्यति।

नवमी—

नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत्सर्वे पशवो विदुः।
तस्मात्तु पुत्रो मातरं स्वसारं चाधिरोहति॥

अपुत्रस्य पुत्रहीनस्य लोकः लोके जायमानं सुखं न अस्ति नभवति इति यत् तत् सर्वे पशवः गोमहिषादयो जानन्ति। सर्वप्रसिद्धमेतदित्यर्थः। तस्मादेव कारणाद् पुत्रः वत्सः मातरं स्वसारं भगिनीं च अधिरोहति पुत्रोत्पादनार्थम्। दुर्लभं पुत्रसुखमिति भावः। वस्तुस्थितिरत्र वर्णिता।

दशमी।

एष पन्था उरुगायः सुशेवो यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः।
तं पश्यन्ति पशवो वयांसि च तस्मात्ते मात्रापि मिथुनी भवन्ति॥

एष पुत्रसुखानुभवरूपः पन्था मार्गः उरुगायः उरुभिः महद्भिः शास्त्रज्ञैः राजामात्यादिभिश्च गीयते प्रशस्यत इति उरुगायः। सुशेवः सुष्ठु सेव्यते सुखाधिक्यादिति सुशेवः छान्दसः शः। यं पन्थानं पुत्रसुखानुभवरूपं पुत्रिणः पुत्रवन्तः देवमनुष्यादयः विशोकाः शोकरहिता आक्रमन्ते प्राप्नुवन्ति। तं पुत्रसुखानुभवरूपं मार्गं पशवः गवादयः वयांसि पक्षिणश्च पश्यन्ति जानन्ति। तस्मात् कारणात् ते पशुपक्ष्यादयः मात्रा जनन्या सह अपि किमुत अन्यया मिथुनी भवन्ति संगच्छन्ते।

इति हास्मा आख्याय।

इति ह अनेनैव प्रकारेण अस्मै हरिश्चन्द्राय आख्याय उत्तरं कथयित्वा विररामेति शेषः।

इति ऐतरेयब्राह्मणे त्रयस्त्रिंशाध्याये लघुदीपके प्रथमः खण्डः।

T

पुत्रनिमित्तलाभप्रतिपादिका नारदोक्ता उदाहृत्य दश गाथा नारदवाक्यैः पुत्रजन्मोपायानुपदेष्टुमवतरणं विरचयति—

अथैनमुवाच-वरुणं राजानमुपधाव पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजा इति ।

अथ पुत्रलाभफलकथनानन्तरम् एनं पुत्रार्थिनं हरिश्चन्द्रं नारद उवाच ।

हे राजन् वरुणं राजानम् उपधाव प्रार्थयस्व । प्रार्थनास्वरूपमाह– मे मम पुत्रो जायताम् उत्पद्यताम् । तेन पुत्रेण त्वा त्वां यजै त्वदर्थं यज्ञं कुर्याम् ।

तथेति स वरुणं राजनमुपससार । पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजा इति । तथेति तस्य पुत्रो जज्ञे रोहितो नाम ।

स हरिश्चन्द्रः तथेति नारदोपदिष्टं प्रार्थनाप्रकारं स्वीकृत्य वरुणं राजानम् उपससार प्रार्थयामास । प्रार्थनामाह । पुत्रो मे जायतां तेन त्वा यजै इति । वरुणोऽपि प्रार्थनां श्रुत्वा तथेति पुत्रो भवत्विति वरं ददौ । तद्वरप्रभावाद् तस्यराज्ञः रोहितोनाम पुत्रो जज्ञे उत्पन्नः ।

अथ बहुभिः पर्यायैर्वरुणस्योक्तिः हरिश्चन्द्रस्य प्रत्युक्तिश्च प्रदर्श्यंते । तत्र प्रथमः पर्यायः—

तं होवाचाजनि वै ते पुत्रो यजस्व मानेनेति । स होवाच–यदा वै पशुर्निर्दशो भवत्यथ स मेध्यो भवति । निर्दशो न्वस्त्वथ त्वा यजाइति तथेति ।

तं हरिश्चन्द्रं वरुण उवाच । हे राजन् ते तव पुत्रः अजनि वै उत्पन्न एव । अनेन पुत्रेण मा माम् उद्दिश्य यजस्व यागं कुरु । एवं वरुणोक्तिं श्रुत्वा स हरिश्चन्द्रः उवाच प्रत्यवदत् । यदा यस्मिन् काले पशुर्निर्दशः निर्गतानि दश अर्थात् दशसंख्याकानि अशौचदिनानि यस्य स निर्दशः भवति अथ सः पशुः मेध्यः पवित्रः याग-

T

योग्यः भवति । तस्माद् नु शीघ्रम् अयं निर्दशः अस्तु भवतु । अथ एतदनन्तरं त्वा यजै । इति एतद् हरिश्चन्द्रवाक्यं वरुणः तथेति तथा भवतु इति अङ्गीकृतवान् ।

द्वितीयः—

स ह निर्दश आस । तं होवाच–निर्दशोन्वभूद्यजस्व मानेनेति । स होवाच–यदा वै पशोर्दन्ता जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति दन्तान्वस्य जायन्तामथ त्वा यजा इति । तथेति ।

स पुत्रः ह निर्दशः निर्गतदशदिनः आस अभूत् । तं राजानम् ह वरुण उवाच—निर्दशो नु अभूत् मा माम् अनेन पुत्रेण यजस्व इति । स राजा ह उवाच । यदा वै पशोः दन्ता जायन्ते अथ तदनन्तरं स मेध्यः उत्पन्नदन्तत्वात् पूर्णाङ्गतया यागयोग्यः भवति इत्यर्थः । दन्ता नु अस्य पशोः जायन्ताम् उत्पन्ना भवन्तु । अथ त्वा त्वां यजै इति । तथेति तथा अस्तु इति वरुणः स्वीचकार ।

तृतीयः—

तस्य ह दन्ता जज्ञिरे । तं होवाचाज्ञत वा अस्य दन्ता यजस्व मानेनेति । स होवाच–यदा वै पशोर्दन्ताः पद्यन्तेऽथ स मेध्यो भवति दन्ता न्वस्य पद्यन्तामथ त्वा यजा इति । तथेति ।

तस्य पशोः ह दन्ता जज्ञिरे जाताः । तं राजानं ह वरुण उवाच—अस्य पशोः दन्ता अज्ञत वै अजनिषत जाता एव, मा अनेन यजस्व । स राजा ह उवाच—यदा वै पशोः दन्ताः पद्यन्ते पतिता भवन्ति अथ स मेध्यो भवति प्रथमदन्तानाम् अस्थायित्वेन मुख्यावयवत्वाभावात् तत्पाते सति पशुः यागार्हो भवतीत्यर्थः । दन्ता नु अस्य पद्यन्तां पतिता भवन्तु । अन्यत् पूर्ववत् ।

T

चतुर्थः--

तस्य ह दन्ताः पेदिरे। तं होवाचापत्सत वा अस्य दन्ता यजस्व मानेनेति। स होवाच-यदा वै पशोर्दन्ताः पुनर्जायन्तेऽथ स मेध्यो भवति। दन्ता न्वस्य पुनर्जायन्तामथ त्वा यजा इति। तथेति।

तस्य पुत्रस्य ह दन्ताः पेदिरे पतिताः। तं राजानम् वरुण आगत्य उवाच—अस्य तव पुत्रस्य दन्ता अपत्सत पतिताः। अनेन मा यजस्व इति। स राजा एवमुक्तः ह उवाच--यदा वै पशोः दन्ताः पुनः द्वितीयावृत्तौ जायन्ते अथ स पशुः मेध्यः भवति पुनर्जातानां दन्तानां स्थिरत्वात् सम्पूर्णाङ्गत्वेन यागयोग्यो भवतीत्यभिप्रायः। अन्यत् सुगमम्।

पञ्चमः--

तस्य ह दन्ताः पुनर्जज्ञिरे। तं होवाचाज्ञत वा अस्य पुनर्दन्ता यजस्व मानेनेति। स होवाच-यदा वै क्षत्रियः सांनाहुको भवत्यथ स मेध्यो भवति संनाहं नु प्राप्नोत्वथ त्वा यजा इति। तथेति।

तस्य पुत्रस्य पशोः ह दन्ताः पुनः जज्ञिरे जाताः। तं ह उवाच वरुणः--अस्य पुनर्दन्ता द्वितीयदन्ता अज्ञत वै जाता एव। मा अनेन यजस्व इति। स राजा ह उवाच--यदा वै क्षत्रियः सांनाहुकः धनुर्बाणकवचादिसंनाहशीलः भवति अथ स मेध्यः भवति क्षत्रियोचितव्यापारपूर्णतया यागयोग्यः सम्पद्यत इति भावः। तस्मात् नु शीघ्रम् असौ संनाहं प्राप्नोतु। शेषं स्पष्टम्।

षष्ठः—

स ह संनाहं प्रापत्। तं होवाच-संनाहं नु प्राप्नोद् यजस्व

T

मानेनेति । स तथेत्युक्त्वा पुत्रमामन्त्रयामास । ततायं वै मह्यं त्वामददाद् हन्त त्वयाहमिमं यजा इति ।

स पुत्रः ह संनाहं प्रापत् प्राप्तवान् । तं ह उवाच वरुणः—संनाहं नु प्राप्नोद् प्राप्तः । मा अनेन यजस्व इति । स एवमुक्तः हरिश्चन्द्रः तथा इति उक्त्वा वरुणोक्तिम् अङ्गीकृत्य पुत्रम् आमन्त्रयामास संबोध्य उवाच—तत हे पुत्र लालनार्थं पितृयोग्यस्य ततपदस्य पुत्रे प्रयोगः । अयं वै वरुण एव मह्यं त्वां वररूपेण अददाद् दत्तवान् । हन्त इति खेदे । अर्थात् निष्करुणः अहं त्वया पुत्ररूपेण पशुना इमं वरुणं यजै एतत्प्रीतये यागं करवाणि इति हरिश्चन्द्रस्य करुणोक्तिः ।

ततो रोहितस्य तत्पुत्रस्य कृत्यं दर्शयितुं बहुभिः पर्यायैः श्रुतिराह—तत्र प्रथमः—

स ह नेत्युक्त्वा धनुरादायारण्यमुपातस्थौ ।
स संवत्सरमरण्ये चचार ॥

स रोहितः ह न इति उक्त्वा पितुः वाक्यं निषिध्य अनङ्गीकृत्य स्वरक्षार्थम् धनुः आदाय गृहीत्वा अरण्यं वनम् उपातस्थौ गतः । स रोहितः निरन्तरं संवत्सरम् एकवर्षम् अरण्ये क्वचिद् वने चचार परिबभ्राम ।

इति ऐतरेय ब्राह्मणे त्रयस्त्रिंशाध्याये लघुदीपके द्वितीयः खण्डः ।

रोहितस्य वननिवासदशायां हरिश्चन्द्रादीनां वृत्तान्तं प्रकटयति ।

अथ हैक्ष्वाकं वरुणो जग्राह । तस्य होदरं जज्ञे । तदुह रोहितः शुश्राव । सोऽरण्याद् ग्राममेयाय । तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच ।

नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम ।
पापो नृषद्वरो जन इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति ॥

T

अथ रोहितस्य वननिवासानन्तरम् ऐक्ष्वाकम् इक्ष्वाकुगोत्रोत्पन्नं हरिश्चन्द्रं वरुणः रोगरूपेण जग्राह गृहीतवान् । तस्य हरिश्चन्द्रस्य वरुणेन गृहीतस्य उदरं जलोदररोग उच्छूनजलपूर्णोदररूपः जज्ञे उत्पन्नः। रोहितः वने स्थितः तत् उ ह पितुः तं रोगं शुश्राव किंवदन्त्या श्रुतवान् । स रोहितः पितुः रोगं श्रुत्वा चिन्ताम् आपन्नः पितरं द्रष्टुं ग्रामम् एयाय चलितः । तं रोहितं मध्येमार्गं पुरुषरूपेण इन्द्रः पर्येत्य प्राप्य उवाच नानेति । अनाश्रान्ताय आश्रान्तः सर्वत्र पर्यटनात् श्रान्तिं प्राप्तः तद्भिन्नः अनाश्रान्तः एकत्रैव निवासशील-स्तस्मै तस्येत्यर्थः (षष्ठ्यर्थे चतुर्थी) तादृशस्य श्रीः सम्पत्तिः न अस्ति न भवति । अथवा श्रान्ताय इतस्ततः परिभ्रमणेन श्रान्तस्य नाना बहुविधा श्रीः अस्ति इति हे रोहित वयं नीतिनिपुणानां मुखात् शुश्रुम अशृणुम । वरः श्रेष्ठोऽपि जनः पुरुषः नृषद् नृषु स्वबन्धुषु सीदति तिष्ठतीति नृषद् स्वबन्धूनां गृहादिषु सदा निवसन् पापस्तुच्छः उपेक्ष्यः भवेद् । इति त्वया पितृगृहे निवासो न करणीय इतिभावः । अरण्ये निवसतो मम कश्चन सहायो न स्यादिति न सन्देहः कार्यः, यतः चरतः पर्यटतस्तव इन्द्र इत् परमेश्वर एव सखा सहायो भविष्यति । अतः त्वं चर पर्यटनं कुरुष्व एव वन इति शेषः । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् ।

द्वितीयः—

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह द्वितीयं संवत्सर-मरण्ये चचार । सोऽरण्याद् ग्राममेयाय । तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच ।

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः ।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति ॥

T

ब्राह्मणः चर एव वने परिभ्रम एव गृहं मा गमः इति माम् अवोचद् इति ब्राह्मणवचनं हृदये कृत्वा द्वितीयं संवत्सरं वर्षम् अरण्ये चचार। ततः पितृदर्शनोत्सुकः अरण्यात् ग्रामम् एयाय आजगाम। तम् आगच्छन्तम् इन्द्रः ब्राह्मणपुरुषरूपेण पर्येत्य आगत्य उवाच— पुष्पिण्याविति। चरतः पर्यटतः पुरुषस्य जंघे पुष्पिण्यौ पुष्पयुक्ते भवतः। यथा वृक्षलतादयः पुष्पयुक्ताः सेव्या भवन्ति तथा चरतः पुरुषस्य जंघे श्रमसहत्वात् सेव्ये भवतः। एवं तादृशस्य जनस्य आत्मा मध्यदेह इत्यर्थः। भूष्णुः वर्धनशीलः फलग्रहिः आरोग्यादिफलवान् भवति। यथा वर्धमानो वृक्षादिः समयानुसारेण सफलो भवति एवं चरतः परिश्रमवतः पुरुषस्य अन्नादियथावत्परिपाकेन मध्यदेहः वर्धमानः आरोग्यबलादिफलयुक्तो जायते। अपिच अस्य चरतः पुरुषस्य सर्वे पाप्मानः पापानि प्रपथे प्रकृष्टे तीर्थादिमार्गे यात्रया हता विनाशिताः सन्तः शेरे शेरते शयाना इव भवन्ति। यथा निद्रिताः पुरुषाः कमपि व्यापारं कर्तुमसमर्था एवं तीर्थादिसेवाजनितपुण्येन विनष्टाः पाप्मानः नरकादिदुःखदानाय न प्रभवन्तीत्यर्थः। तस्मात्त्वं चर एव विपिने, नैव पितुर्गृहं याहि।

तृतीयः।

चरैवेतिं वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह तृतीयं संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय। तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगश्चरैवेति॥

उवाचान्तं स्पष्टम्। आस्त इति। भगः शोभनं भाग्यम् आसीनस्य उपविष्टस्य आस्ते तथैव तिष्ठति नतु वर्धते। तिष्ठतः उपवेशनं

T

विहाय उत्तिष्ठतः ऊर्ध्वः वृद्ध्युन्मुखः तिष्ठति। निपद्यमानस्य भूमौ शयानस्य शेते निद्राति। धनार्जनचिन्तादिरहितस्य विनष्टो भवति। चरतः पर्यटनं कुर्वतः भगः चराति दिने दिने वर्धते। तस्मात्त्वं चर एव श्रम एव नत्वेकत्र तिष्ठ।

चतुर्थः।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह चतुर्थं संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय। तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच।

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरंश्चरैवेति॥

उवाचान्तं सुगमम्। कलिरिति। शयानः निद्रालुः कलिः कलितुल्यः निकृष्टः। संजिहानः वीतनिद्रः पार्श्वपरिवर्त्तनं कुर्वन् द्वापरः द्वापरसदृशः मध्यमः। उत्तिष्ठन् शय्यां परित्यजन् त्रेता तत्सम उत्कृष्टः। चरन् पर्यटन् उद्योगं कुर्वन् कृतं सत्ययुगं संपद्यते तत्साम्यं प्राप्नोति उत्कृष्टतम उत्तमः। चरणस्य सर्वोत्तमत्वात् चर एव।

पञ्चमः।

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदिति ह पञ्चमं संवत्सरमरण्ये चचार। सोऽरण्याद् ग्राममेयाय। तमिन्द्रः पुरुषरूपेण पर्येत्योवाच।

चरन् वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति॥

उवाचान्तं सुबोधम्। चरन्निति। चरन् पर्यटन्नेव पुरुषः कश्चिद् वृक्षादौ मधु माक्षिकं विंदति लभते। अथ चरन् स्वादुम् स्वादयुक्तम्

T

उदुम्बरम् उपलक्षणमेतत् फलमात्रमित्यर्थः लभते। सर्वस्य भोगमात्रस्य इदं द्वयम् उपलक्षणम्। भोगमात्रं चरणेन प्राप्यम्। अत्र सूर्यो दृष्टान्तः। यः सूर्यः चरन् सर्वदैव परिश्रमन् न तन्द्रयते कदाचिदपि आलस्यं न करोति। तस्य भगवतः सूर्यस्य श्रेमाणं श्रेष्ठत्वं जगत्पूज्यत्वं पश्य। तस्मात् चर एव।

इत्थमिन्द्रोपदेशेन चरतः रोहितस्य स्वजीवनलाभः पितुश्चारोग्यं फलद्वयं सम्पन्नमित्याह—

चरैवेति वै मा ब्राह्मणोऽवोचदितिह षष्ठं संवत्सरमरण्ये चचार सोऽजीगर्तं सौयवसिमृषिमशनया परीतमरण्ये उपेयाय।

चचारान्तं प्राग्वत्। स षष्ठं संवत्सरं पूर्ववत् वने निवासी रोहितः तस्मिन् अरण्ये अजीगर्त्तं तन्नामकं कंचिद् ऋषिम् उपेयाय प्राप्तवान्। कथंभूतं सुयवसस्य ऋषेः अपत्यं सौयवसिम् अशनया अन्नस्य अप्राप्त्या बुभुक्षया परीतं व्याप्तं पीडितम्।

अथ अजीगर्तरोहितयोः परस्परं संवादः—

तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः। शुनःपुच्छः, शुनःशेपः, शुनोलाङ्गूल इति। तं होवाच-ऋषेऽहं ते शतं ददाम्यहमेषामेकेनात्मानं निष्क्रीणा इति। स ज्येष्ठं पुत्रं निगृह्णान उवाच—नन्विममिति नो एवेममिति। कनिष्ठं माता। तौ ह मध्यमे संपादयांचक्रतुः शुनःशेपे। तस्य ह शतं दत्त्वा स तमादाय सोऽरण्याद् ग्राममेयाय।

तस्य अजीगर्त्तस्य ह त्रयः पुत्रा आसुः आसन्। तेषां क्रमेण नामानि–शुनः पुच्छः, शुनःशेपः, शुनोलांगूल इति। तं पुत्रवन्तम् ऋषिम् रोहितः उवाच। ऋषे अजीगर्त्त अहं ते तुभ्यं गवां शतं ददामि। दत्त्वा च अहम् एषां तव त्रयाणां पुत्राणां मध्ये केनचिद्

T

एकेन पुत्रेण आत्मानं निष्क्रीणै वरुणाद् मोचयामि मूल्यं दत्त्वेत्यर्थः। स एवमुक्तः अजीगर्त्तः ज्येष्ठं पुत्रं शुनः पुच्छं निगृह्णानः हस्तेन स्वसमीपे समाकर्षन् रोहितम् उवाच-ननु इमं मध्यमम् शुनःशेपम् एकं पुत्रम् ददामि, इमं ज्येष्ठम् तु नो एव नैव। ज्येष्ठस्य अतिप्रियत्वादित्यर्थः। ततो माता कनिष्ठं गृहीतवती प्रेमास्पदत्वात्। अन्ततः तौ मातापितरौ मध्यमे शुनःशेपे दानं संपादयांचक्रतुः स्वीकृतवन्तौ। ततः स रोहितः तस्य तस्मै अजीगर्त्ताय गवां शतं दत्वा तं शुनःशेपमादाय स्थितः। स रोहितः क्रीतेन सह शुनःशेपेन अरण्याद् स्वकीयं ग्रामम् एयाय उपागतः।

तदनन्तरभाविनं वृत्तान्तं दर्शयति--

स पितरमेत्योवाच—तत हन्ताहमनेनात्मानं निष्क्रीणा इति। स वरुणं राजानमुपससारानेन त्वा यजा इति। तथेति भूयान् वै ब्राह्मणः क्षत्रियादिति वरुण उवाच। तस्मा एतं राजसूयं यज्ञक्रतुं प्रोवाच। तमेतमभिषेचनीये पुरुषं पशुमालेभे।

स रोहित एत्य आगत्य पितरम् उवाच--तत हे पितः हन्त इति हर्षे। अहम् अनेन शुनःशेपरूपेण मूल्येन आत्मानं स्वं वरुणाद् निष्क्रीणै मूल्यं दत्वा मोचयामि। स एवमुक्ते प्रहृष्टो हरिश्चन्द्रः वरुणम् उपससार जगाम। गत्वा अवदद् हे वरुण अनेन शुनःशेपेन ब्राह्मणेन त्वा त्वां यजै यक्ष्यामीत्यर्थं इति। वरुणः तथेति अङ्गीकृत्य उवाच-क्षत्रियात्तव पुत्राद् रोहिताद् अपि अयं ब्राह्मणो भूयान् अत्यधिकं प्रियः इति। अपिच वरुणः प्रसन्नः तस्मै हरिश्चन्द्राय एतं राजसूयं यज्ञक्रतुं यागं कर्त्तव्यत्वेन प्रोवाच उपदिदेश। हरिश्चन्द्रः तमेतं शुनःशेपं पुरुषं पशुम् अभिषेचनीये

T

एकाहसाध्ये सोमयागे राजसूयाङ्गे आलेभे सवनीयपशुत्वेन आलब्धुं हन्तुं निश्चयं कृतवान्।

इति ऐतरेयब्राह्मणे त्रयस्त्रिंशाध्याये लघुदीपके तृतीयः खण्डः।

अथ हरिश्चन्द्रो राजसूयं चकारेति वर्णयति—

तस्य ह विश्वामित्रो होतासीज्जमदग्निरध्वर्युर्वसिष्ठो ब्रह्माऽयास्य उद्गाता। तस्मा उपाकृताय नियोक्तारं न विविदुः। स होवाचाजीगर्त्तः सौयवसिर्मह्यमपरं शतं दत्ताहमेनं नियोक्ष्यामीति। तस्मा अपरं शतं ददुस्तं स निनियोज।

तस्य हरिश्चन्द्रस्य विश्वामित्रः होता, जमदग्निः अध्वर्युः वसिष्ठः ब्रह्मा, अयास्य उद्गाता आसीत्। एते महर्षयो राज्ञो राजसूययागे महर्त्विजो बभूवुः। तत्र जमदग्निः अभिषेचनीये सोमयागे शुनःशेपं सवनीयपशुरूपेण उपाकृतवान्। अध्वर्योः एतत्कर्त्तव्यत्वात्। उपाकरणं नाम बर्हिःसहितया प्लक्षशाखया मन्त्रेण समुपस्पृश्य स्वीकारः। ततः परं यूपे पशोः हननाय बन्धनं नियोजनम्। तस्य क्रूरकर्मत्वात् तत्र अध्वर्युर्न प्रवृत्तः। तस्मात् उपाकृताय तस्मै उपाकरणसंस्कारेण संस्कृतस्य शुनःशेपस्य नियोक्तारं यूपे बन्धनकर्त्तारं कंचित् क्रूरं न विविदुः न लब्धवन्तः। ततः सः सौयवसिः अजीगर्त्तः शुनःशेपस्य पिता एव उवाच—मह्यम् अपरं पूर्वदत्तशताद् भिन्नं गवां शतं दत्त वितरत, हे यजमानादयः ततः अहम् एनं शुनःशेपं नियोक्ष्यामि बद्धं करिष्यामि। रशनया रज्ज्वा कट्यां, शिरसि पादयोश्च बद्ध्वा रशनाग्रभागस्य यूपे बन्धनं नियोजनं तत् करिष्यामि। तस्मै अजीगर्त्ताय अपरं गवां शतं ददुः दत्तवन्तः। एवं दाने दत्ते सः अजीगर्त्तः तं शुनःशेपं निनियोज। तथा बबन्ध। (धातुं विहाय उपसर्गस्य निशब्दस्य द्वित्वं वैदिकम्)। क्रूरकर्मणि क्रियमाणे विक्षोभद्योतनार्थः अन्यथाभावः।

T

अथ हिंसाप्रवृत्तिः प्रदर्श्यते—

तस्मा उपाकृताय नियुक्तायाप्रीताय पर्यग्निकृताय विशसितारं न विविदुः । स होवाचाजीगर्त्तः सौयवसिर्मह्य-मपरं शतं दत्ताहमेनं विशसिष्यामीति । तस्मा अपरं शतं ददुः । सोऽसिं निःशान एयाय ।

उपाकरणं नियोजनं च पूर्वं कथितम् । आप्रीणनं च एकादश-संख्याभिः आप्रीनामभिः प्रयाजयाज्याभिः ऋग्भिः यजनम् । दर्भ-रूपेण उल्मुकेन पशोः त्रिः प्रदक्षिणीकरणं पर्यग्निकरणम् । एवं चतुर्भिः संस्कारैः संस्कृतस्य तस्य शुनःशेपस्य विशसितारं छेत्तारं न विविदुः न प्राप्तवन्तः । विशसनस्य अतिक्रूरत्वान्नऽकोऽपि प्राप्तः । ततः सौयवसिः अजीगर्त्तः उवाच—मह्यं पूर्वशतद्वयाद् अपरं गवां शतं दत्त, अहम् एनं शुनःशेपं विशसिष्यामि छेत्स्यामि इति । तस्मै अपरं गवां शतं ददुः । स गवां शतं पुनः प्राप्तवान् असिं खड्गं निःशानः तीक्ष्णीकुर्वन् एयाय शुनःशेपस्य समीपम् आजगाम ।

पितापुत्रयोः चरित्रं प्रकटयति—

अथ ह शुनःशेप ईक्षांचक्रेऽमानुषमिव वै मा विशसिष्य-न्ति । हन्ताहं देवता उपधावामीति । स प्रजापतिमेव प्रथमं, देवतानामुपससार । कस्य नूनं कतमस्यामृतानामित्येतयर्चा ।

अथ पितुः पुत्रहननोद्योगानन्तरं शुनःशेप ईक्षां चक्रे विचारं कृतवान्—अन्यत्र पर्यग्निकृतं पुरुषमारण्यांश्चोत्सृजन्त्यहिंसाया इति श्रुतेः पर्यग्निकरणात् परं पुरुषं त्यजन्ति । एते तु क्रूरा अमानुषं मनुष्यभिन्नम् अजादिपशुमिव विशसिष्यन्ति छेत्स्यन्ति । हन्त घोरं कष्टं मम उपस्थितम् । अतः एतद्विपत्तिप्रतीकाराय अहं देवता उपधावामि भजामि ।

T

इति विचिन्त्य सः शुनःशेपः देवतानां प्रथमं मुख्यं प्रजापतिम् एव उपससार कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम् इति एतया ऋचा सिषेवे।

प्रजापतिना उपदिष्टः अग्निं सेवितवानित्याह—

तं प्रजापतिरुवाचाग्निर्वै देवानां नेदिष्ठस्तमेवोपधावेति। सोऽग्निमुपससाराग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानामित्येतयर्चा।

प्रजापतिर्दयाविष्टः तं सेवकम् उवाच—अग्निः देवानां सर्वेषां हविःप्रापणेन नेदिष्ठः अतिसमीपवर्त्ती। अतः तम् अग्निम् एव उपधाव सेवस्व इति। स एवमुक्तः अग्नेर्वयम् इत्येतया ऋचा अग्निम् उपससार उपासांचक्रे बभाज।

अग्निनोपदिष्टः सवितारम् उपासितवान्—

तमग्निरुवाच—सविता वै प्रसवानामीशे तमेवोपधावेति। स सवितारमुपससाराभित्वा देव सवितरित्येतयर्चा।

अग्निः तम् उवाच—सविता प्रसवानां सर्वेषु कार्येषु प्रेरणारूपाणाम् अनुज्ञानाद् ईशे ईष्टे ईशः इत्यर्थः। अतः तमेव उपधाव सेवस्व इति। स शुनःशेप एवमुक्तः अभित्वा देव सवितरित्यादिभिः तृचेन तिसृभिः ऋग्भिः सवितारम् उपससार असेवत।

सवित्रोपदिष्टो वरुणं सिषेव इत्याह—

तं सवितोवाच—वरुणाय वै राज्ञे नियुक्तोऽसि। तमेवोपधावेति। स वरुणं राजानमुपससारात उत्तराभिरेकत्रिंशता।

सविता तम् उवाच—हे शुनःशेप त्वं वरुणाय वै एव राज्ञे नियुक्तो यूपे बद्धोऽसि। अतः तम् एव उपधाव सेवस्व इति। स शुनःशेप एवमुक्तः अतः सवितृविषयकाद् ऋक्त्रयाद् उत्तराभिः परिवर्त्तिनीभिः एकत्रिंशता ऋग्भिः वरुणं राजानम् उपससार सिषेवे।

T

ततः स वरुणोपदिष्टः पुनरप्यग्निं सेवितवानिति प्रतिपादयति--

तं वरुण उवाचाग्निर्वै देवानां मुखं सुहृदयतमस्तं नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति । सोऽग्निं तुष्टावात उत्तराभिर्द्वाविंशत्या ।

तं शुनःशेपं वरुण उवाच-अयम् अग्निः देवानां मुखं मुखस्थानीयः । अग्निद्वारेणैव देवा हविः स्वीकुर्वन्तीति । हविः प्रापणादेव अग्निः सुहृदयतमः अतिशयेन सुन्दरहृदयवान् । तं नु शीघ्रं स्तुहि स्तवं कुरु । अथ एतदनन्तरं त्वा त्वाम् उत्स्रक्ष्यामः मोक्ष्याम इति । स वरुणेन उक्तः अतः पूर्वोक्त ऋचः उत्तराभिः पराभिः 'द्वाविंशत्या ऋग्भिः अग्निं तुष्टाव अस्तुवीत् ।

ततो विश्वदेवान् तुष्टावेति ब्रवीति--

तमग्निरुवाच--विश्वान्नु देवान् स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति । स विश्वान्देवाँस्तुष्टाव नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्य इत्येतयर्चा ।

यद्यपि वरुण एव स्वपाशेन बद्धं शुनःशेपं मोचयितुं समर्थस्तथापि तेषां स्तुतौ प्रेरणा दार्ढ्यार्था । तम् अग्निः उवाच-विश्वान् सर्वान् देवान् स्तुहि नु क्षिप्रम् । अथ त्वा उत्स्रक्ष्याम इति । स विश्वान् देवान् नमो महद्भ्य इति एतया ऋचा तुष्टाव ।

तत इन्द्रोपासनां वर्णयति--

तं विश्वे देवा ऊचुरिन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमस्तं नुस्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति । स इन्द्रं तुष्टाव यच्चिद्धि सत्य सोमपा इति चैतेन सूक्तेनोत्तरस्य च पञ्चदशभिः ।

T

तं विश्वे सर्वे देवा ऊचुः-इन्द्रः वै एव देवानां मध्य ओजिष्ठः अतिशयदीप्तिमान्, बलिष्ठः अतिदक्षतायुक्तः, सहिष्ठः प्रसह्य हठात् कर्त्ता, सत्तमः उत्कृष्टसुजनः, पारयिष्णुतमः उपक्रान्तस्य प्रारब्धस्य समाप्तिकर्त्ता अस्ति। "ओजो दीप्तिर्बलं दाक्ष्यं प्रसह्यकरणं सहः। सुजनः सन् पारयिष्णुरुपक्रान्तसमाप्तिकृत्॥" इति पूर्वाचार्यवचनात्। अतः त नु इन्द्रमेव स्तुहि, अथ स्तुतिकरणात्परं त्वां उत्स्रक्ष्याम इति। ततः स इन्द्रं तुष्टाव कैः—यच्चिद्धि सत्य सोमपा इत्यादिना सप्तचंन सूक्तेन तदुत्तरस्य अध्यायस्य इन्द्रमित्यादिभिः पञ्चदशभिः ऋग्भिः।

अथ प्रसन्न इन्द्रः शुनःशेपेऽनुग्रहं कृतवानिति व्याहरति—

तस्मा इन्द्रः स्तूयमानः प्रीतो मनसा हिरण्यरथं ददौ। तमेतया प्रतीयाय शश्वदिन्द्र इति॥

शुनःशेपेन स्तूयमान इन्द्रः प्रीतः सन् मनसा हिरण्यरथं सुवर्णमयं दिव्य रथं ददौ। शुनःशेपोऽपि इन्द्रस्य इममनुग्रहं ज्ञात्वा पूर्वाभ्यः पञ्चदशभ्य ऋग्भ्यः तदुत्तरया शश्वदिन्द्र इति एतया ऋचा च तं रथं प्रतीयाय मनसैव जगाम।

अथाश्विनोः उपासनामाचष्टे—

तमिन्द्र उवाचाश्विनौ नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति। सोऽश्विनौ तुष्टावात उत्तरेण तृचेन।

तम् इन्द्र उवाच—अश्विनौ नु स्तुहि। अथ त्वा उत्स्रक्ष्याद इति पूर्ववत्। स शुनःशेपः शश्वदिन्द्र इत्युक्ताया ऋच उत्तरेण तृचेन अश्विनावश्वावत्या इत्यादिकेन अश्विनौ तुष्टाव।

तत उषस उपासना—

तमश्विना ऊचतुरुषसं नु स्तुह्यथ त्वोत्स्रक्ष्याम इति। स उषसं तुष्टावात उत्तरेण तृचेन।

T

तम् अश्विनौ ऊचतुः--उषसं नु स्तुहि । अथत्वोत्स्रक्ष्याम इति । स उषसं तुष्टाव अत उत्तरेण कस्त उष इत्यादिना तृचेन ।

ततः सर्वेषां देवानां कृपया शुनःशेपः पाशाद् मुक्तो हरिश्चन्द्रश्च आरोग्यं प्राप्तवान् इति कथयति--

तस्य ह स्मर्च्युक्तायां वि पाशो मुमुचे, कनीय ऐक्ष्वाकस्योदरं भवत्युत्तमस्यामेवर्च्युक्तायां विपाशो मुमुचेऽगद ऐक्ष्वाक आस ॥

तस्य तृचस्य एकैकस्याम् ऋचि क्रमेण उक्तायां क्रमशः शुनःशेपस्य पाशः विमुमुचे मुच्यमानः अभवत् । ऐक्ष्वाकस्य हरिश्चन्द्रस्य उदरं जलोदररोगः क्रमेण कनीयः अत्यल्पं भवतिस्म । उत्तमस्याम अन्तिमायां ऋचि उक्तायां विमुमुचे सर्वथा मुक्तः ऐक्ष्वाकश्च अगदः संपूर्णतया रोगरहित आस बभूव ।

इति ऐत्तरेयब्राह्मणे त्रयस्त्रिंशाध्याये लघुदीपके चतुर्थः खण्डः

निर्बन्धनस्य शुनःशेपस्य अग्रिमं वृत्तं भाषते-

तमृत्विज ऊचुस्त्वमेव नोऽस्याह्नः संस्थामधिगच्छेत्यथ हैतं शुनःशेपोऽञ्जःसवं ददर्श तमेताभिश्चतसृभिरभिसुषाव यच्चिद्धि त्वं गृहे गृह इत्यथैनं द्रोणकलशमभ्यवनिनायोच्छिष्टं चम्वोर्भरेत्येतयर्चाथ हास्मिन्नन्वारब्धे पूर्वाभिश्चतसृभिः सस्वाहाकाराभिर्जुहवां चकाराथैनमवभृथमभ्यवनिनाय त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वानित्येताभ्यामथैनमत ऊर्ध्वमग्निमाहवनीयमुपस्थापयांचकार शुनश्चिच्छेपं निदितं सहस्रादिति ।

अथ देवैरनुगृहीतं तं शुनःशेपं दृष्ट्वा विश्वामित्रप्रभृतयः सर्वे महर्त्विज ऊचुः--हे शुनःशेप त्वमेव नः अस्माकम अस्य अह्नः

T

अभिसेचनीयनामकस्य संस्थां समाप्तिम् अभिगच्छ प्राप्नुहि सम्पादयेत्यर्थः।अथ एवं कथनानन्तरं शुनःशेपः एतम् अभिषेचनीयं नाम सोमयागम् अञ्जःसवं ददर्श अञ्जसा ऋजुप्रकारेण सवः सोमाभिषवो यस्मिन् यागे तं तादृशं प्रयोगमार्गं निश्चितं कृतवान्। अथ यच्चिद्धि त्वं गृहे गृह इति एताभिः चतसृभिः ऋग्भिः तं सोमम् अभिसुषाव अभिषुतं कृतवान्। अथ एनम् अभिषुतं सोमं द्रोणकलशम् अभिलक्ष्य अवनिनाय उच्छिष्टं चम्वोर्भर इति एतया ऋचा द्रोणकलशे प्रक्षिप्तवान्। अथ ततः अस्मिन् हरिश्चन्द्रे अन्वारब्धे शुनःशेपं स्पृष्टवति सस्वाहाकाराभिः स्वाहासहिताभि : उक्ताभ्यऋग्भ्यः पूर्वाभिः यत्र ग्रावेत्यादिभिः चतसृभिः ऋग्भिः सोमं जुहवांचकार अजुहोत् । अथ होमात् परम् एनम् अवभृथम् अभिलक्ष्य तत्साधनं तद्देशे प्रापय्य त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् इत्येताभ्याम् ऋग्भ्याम अवनिनाय तद्यागं कृतवान्। अथ अत ऊर्ध्वं तदनन्तरम् एनम् आहवनीयम् अग्निम् शुनश्चिच्छेपमिति ऋचा उपस्थापयां चकार हरिश्चन्द्रम् आहवनीयोपस्थाने प्रेरयामास। अत एवायम् अञ्जः सवः इष्टिपशुसांकर्यं विना ऋजुविधिना कृतत्वात्।

अथ अग्रिमं शुनःशेपवृत्तान्तं प्रदर्शयति—

अथ ह शुनःशेपो विश्वामित्रस्याङ्कमाससाद। स होवाचाजीगर्त्तः सौयवसिरृषे पुनर्मे पुत्रं देहीति। नेति होवाच विश्वामित्रो देवा वा इमं मह्यमरासतेति। स ह देवराती वैश्वामित्र आस। तस्यैते कापिलेयबाभ्रवाः।

अथ अभिषेचनीयसमाप्तौ सत्यां सर्वेषु हरिश्चन्द्रादिषु सभ्येषु चकितेषु शुनःशेप इदानीं कस्य पुत्रो भवतु इति विचारे प्रस्तुते तदिच्छैव निर्णायिकेति तत्रत्यैर्निर्णये दत्ते शुनःशेपः विश्वामित्रस्य अङ्कम् उत्सङ्गम् आससाद तदीयपुत्रत्वं स्वीकृतवान्। तदा

T

सौयवसिः सः अजीगर्त्तो उवाच-ऋषे हे विश्वामित्र मे पुत्रं मह्यं पुनः देहि इति। विश्वामित्रः नेति तत्कथनं निराकृत्य उवाच-देवाः प्रजापत्यादयः इमं शुनःशेपं मह्यम् अरासत अददुः तस्मात्तुभ्यं न दास्यामीत्यर्थः। सः शुनःशेपः देवैर्दत्ततया देवरातो नाम भूत्वा वैश्वामित्रः विश्वामित्रपुत्र आस जातः। तस्य देवरातस्य एते कापिलेयबाभ्रवाः कपिलबभ्रुगोत्रजाता बन्धवो बभूवुः।

अथ शुनःशेपाजीगर्त्तयोः संवादः--

स होवाचाजीगर्त्तः सौयवसिस्त्वं वेहि विह्वयावहा इति। स होवाचाजीगर्त्तः सौयवसिराङ्गिरसो जन्मनास्याजीगर्त्तिः श्रुतः कविः। ऋषे पैतामहात्तन्तोर्मापगाः पुनरेहि मामिति। स होवाच शुनःशेपोऽदर्शुस्त्वा शासहस्तं न यच्छूद्रेष्वलप्सत। गवांत्रीणि शतानि त्वमवृणीथा मदङ्गिर इति।

एवं विश्वामित्रेण निराशीकृतः स सौयवसिः अजीगर्त्तः शुनःशेपम् उवाच-हे पुत्र त्वं वा त्वमेव विश्वामित्रं विहाय इहि अस्मद्गृहं गच्छ, त्वन्माता अहं च आवां त्वां विह्वयावहै तव आह्वानं कुर्वः। एवमुक्ते तूष्णीमवस्थितं शुनःशेपं पुनः गाथया स सौयवसिः अजीगर्त्तः उवाच-हेपुत्र त्वं जन्मना आङ्गिरसः अङ्गिरोगोत्रभव आजीगर्त्तिः अजीगर्त्तस्य पुत्रः कविः विद्वान् श्रुत एवं रूपेण प्रसिद्धः। अतः हे ऋषे पैतामहात् पितामहस्य प्रजापतेः सम्बन्धिनः तन्तोः सन्तानात् मा अपगाः तत्परित्यज्य विश्वामित्रं न गच्छ। पुनः माम् एहि आयाहि इति। स एवमभिहितः शुनःशेपः गाथया उवाच उत्तरं ददौ-हे अजीगर्त्त मद्वधाय त्वा त्वां शासः विशसनस्य छेदनस्य हेतुः खड्गः स हस्ते यस्य तादृशं त्वां

सव अदर्शुः अपश्यन् । यत् क्रूरं निन्दितं कर्म शूद्रेषु तेष्वपीत्यर्थः न अलप्सत केऽपि न प्राप्तवन्तः । तादृशं जघन्यं कर्म त्वया कृतम् । अङ्गिरः हे अङ्गिरोगोत्रजात त्वं मत् मां निमित्तीकृत्य गवां त्रीणि शतानि अवृणीथा गृहीतवान् असि । एवं कृतवता क्रूरेण सह मम कश्चन संबन्धो न भविष्यतीति भावः ।

ततः शुनःशेपाजीगर्तयोः पुनरप्युक्तिप्रत्युक्ती वर्णयति--

स होवाचाजीगर्त्तः सौयवसिस्तद्वै मा तात तपति पापं कर्म मयाकृतम् । तदहं निह्नुवे तुभ्यं प्रतियन्तुशता गवामिति । स होवाच शुनःशेपो—यः सकृत्पापकं कुर्यात् कुर्यादेनत्ततोऽपरम् । नापागाः शौद्रान् न्यायादसंधेयं त्वयाकृतमिति ।

स शुनःशेपेन उपालब्धः सौयवसिः सुयवसपुत्रः अजीगर्त्तः स्वशपेन तप्तः गाथया पुनरुवाच--हे तात पितृवत्सेव्य यत् पापं नीचं कर्म मयाकृतं तद्वै तदेव मा मां तपति संतापयति । तत् पापं निह्नुवे अहं परिहरामि । गवां शता त्रीणि शतानि मया गृहीतानि सर्वाणि तुभ्यं प्रतियन्तु गच्छन्तु । त्वमेव सर्वा गृहाण नान्यौ पुत्रौ तद्भागिनौ भवेताम् । स एवमुक्तः शुनःशेपः उवाच गाथया उत्तरं ददौ—यः पुरुषः पापकं कुत्सितं दारुणं पापं सकृद् एकवारं कुर्यात् स पापाभ्यासी ततः तस्माद् पापाद् अपरं भिन्नमपि एनत् पापं कुर्याद् एव । शौद्रात् न्यायात् नीचजातिसंबन्धि क्रूराचरणात् त्वं नापागा न अपगतोऽसि । तस्मात्त्वया असन्धेयम् अप्रतिसमाधेयं पापंकृतम् । अतस्त्वं न संबन्धयोग्य इति भावः ।

अथ विश्वामित्रः किंकृतवानित्याह--

असंधेयमिति ह विश्वामित्र उपपपाद । स होवाच विश्वामित्रो भीम एव सौयवसिः शासेन विशिशासिषुः । अस्थान्मैतस्य पुत्रो भूर्ममैवोपेहि पुत्रतामिति ।

T

असंधेयम् अप्रतिसमाधेयं पापं कृतम् अजीगर्त्तेनेति यत् शुनःशेपेन कथितं तद् विश्वामित्र उपपपाद युक्तिभिः समर्थितवान्। स विश्वामित्र उवाच तत्समर्थिकां गाथाम्—सौयवसिः अजीगर्त्तः भीमः भयानकएव शासेन खड्गेन विशिशासिषुः विशसनं कर्तुमिच्छुः अस्थाद् अवस्थितः। अतः हे शुनःशेप एतस्य पापिष्ठस्य अजीगर्त्तस्य त्वं पुत्रः मा भूः, अपितु मम एव पुत्रताम् उपेहि स्वीकुरु।

ततो विश्वामित्रशुनःशेपयोः संवादं श्रुतिराह—

स होवाच शुनःशेपः स वै यथा नो ज्ञपयाराजपुत्र तथा वद। यथैवाङ्गिरसः सन्नुपेयां तव पुत्रतामिति। स होवाच विश्वामित्रो ज्येष्ठो मेत्वं पुत्राणां स्यास्तव श्रेष्ठा प्रजा स्यात्। उपेयादैवं मेदायं तेन वै त्वोपमन्त्रयइति।

स विश्वामित्रेण बोधितः शुनःशेपः पुनरपि गाथया विश्वामित्रम् उवाच प्रत्यवदत्। हे राजपुत्र विश्वामित्रः जन्मना क्षत्रियस्तपोऽतिशयप्रभवेण ब्राह्मणत्वं प्रतिपेदे इति तदीयवृत्तसूचकमिदं सम्बोधनम्। सत्त्वं क्षत्रियः सन् यथा येन प्रकारेण नः अस्माभिः सर्वैः आसमन्ताद् ज्ञपय ब्राह्मणत्वेन ज्ञायसे तथा तेन प्रकारेण वद अस्मद्विषयेऽपि। ब्राह्मणानुरूपं कथनविषयमाह—अहम् आङ्गिरसः अङ्गिरोगोत्रजः सन् यथैव येन प्रकारेण अङ्गिरोगोत्रं परित्यज्य तव पुत्रताम् उपेयाम् प्राप्नुयाम् तथा अनुकम्पयेत्यर्थः।

एतत् संक्षिप्य पूर्वैरुक्तम्—

"पुरात्मानं नृपं विप्रं तपसा कृतवानसि।
एवमाङ्गिरसं मां त्वं वैश्वामित्रमृपेकुरु॥"

स एवमुक्तो विश्वामित्रः गाथया उवाच उत्तरं ददौ—

हे शुनःशेप त्वं मे मम पुत्राणां मध्ये ज्येष्ठः स्याभव। तव प्रजा सन्ततिरपि मम पुत्रादिसन्तानापेक्षया श्रेष्ठा ज्येष्ठा स्यात्।

मे मह्यं विश्वामित्राय दवं देवैः प्रसन्नै र्भूत्वा दत्तं दायं त्वत्पुत्रत्वरूपं लाभम् उपेया उपभुङ्क्ष्वेत्यर्थः। तेन प्रकारेण वै त्वा त्वाम् उपमन्त्रये पुत्रत्वेन रूपेण व्यवहरामि।

पुनरपि तयोः संवादं दर्शयति--

स हो वाच शुनःशेपः संज्ञानानेषु वै ब्रूयात् सौहार्द्याय मे श्रियै। यथाहं भरतऋषभोपेयां तवपुत्रतामित्यथह विश्वामित्रः पुत्रानामन्त्रयामास मधुच्छन्दाः शृणोतन। ऋषभो रेणुरष्टकः। ये के च भ्रातरः स्थ नास्मै ज्यैष्ठ्याय कल्पध्वमिति।

विश्वामित्रेणोक्तः स शुनःशेपः दार्ढ्यार्थम् विश्वामित्रम् उवाच-हे महर्षे संज्ञानानेषु मद्विषये ऐकमत्यं गतेषु भवदीयपुत्रेषु सर्वोऽपि वै ब्रूयात् ज्येष्ठपुत्रतया मां व्यवहरतु। तद्धि मे मम सौहार्द्याय भ्रातृभिरपरैः सह प्रेमातिशयाय श्रियै संपत्तये च स्यात्। हे भरत-ऋषभ भरतकुलगौरव विश्वामित्र अहं यथा येन प्रकारेण तव भवतः पुत्रताम् उपेयां प्राप्तः स्याम् तथा पुत्राणां समत्तम् अनुग्रह-व्यवहारं कुरु। इति। अथ इत्युक्तः अनन्तरं विश्वामित्रः पुत्रान् आमन्त्रयामास सम्बोध्य गाथया आज्ञापयामास—मधुच्छन्दाः, ऋषभः, रेणुः अष्टकश्च चत्वारः विश्वामित्रस्य पुत्रमुख्याः। तान् सम्बोध्य आज्ञापितवान् हे पुत्राः मदीयां वाचं शृणोतन शृणुत। यूयं ये के च भ्रातरः स्थ ते सर्वे अस्मै अस्मादित्यर्थः शुनःशेपाद्-ज्यैष्ठ्याय न कल्पध्वम्। भवन्तः कनिष्ठा अयं च भवतां मध्ये ज्येष्ठो भवत्वित्यर्थः।

इति ऐत्तरेयब्राह्मणे त्रयस्त्रिंशाध्याये लघुदीपके पञ्चमःखण्डः।

T

ततो विश्वामित्रपुत्राः किमकुर्वन्नित्याह--

तस्यह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसुः । पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुच्छन्दसः पञ्चाशत्कनीयांसः ।

तस्य विश्वामित्रस्य एकाधिकाः शतसंख्याका एकशतं पुत्रा आसुः बभूवुः । मधुच्छन्दसः मधुच्छन्दा मध्यमः तस्माद् पञ्चाशद् एव ज्यायांसः ज्येष्ठाः पञ्चाशच्च कनीयांसः कनिष्ठाः ।

तेषां मध्ये पञ्चाशतो ज्येष्ठानां किमभूदिति प्रतिपादयति—

तद्येज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे ।ताननु व्याजहारा-न्तान्वः प्रजा भक्षीष्टेति । त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः ।

तत् तेषु एकशतसंख्याकेषु मध्ये ये ज्यायांसः मधुच्छन्दसो ज्येष्ठाः पञ्चाशत् आसन् ते शुनःशेपस्य विश्वामित्रस्य पुत्रभवनं कुशलं शोभनं न मेनिरे न अङ्गीकृतवन्तः । तान् सर्वान् ज्येष्ठान् अनु अनुलक्ष्य विश्वामित्रः व्याजहार कथयामास शापं दत्तवानि-त्यर्थः-- हे ज्येष्ठपुत्रा वः मदीयाज्ञातिक्रमिणां युष्माकं प्रजाः पुत्रादयः अन्तान् भक्षीष्ट चाण्डालादिरूपा नीचजातीः आश्रयन्ताम् । जातौ एकवचनमेव वा प्रजेति । ते एते तदीयाः पुत्रादयः शापवशात् अन्ध्राः, पुण्ड्राः, शबराः, पुलिन्दा, मूतिबा इति पञ्चजातयः अभवन् । इति पदम् उपलक्षणबोधकम् । अतः अन्यनीचजातयोऽपि ते जाताः। उदन्त्या उद्गत उद्भूतः नीचजातिविशेषः तत्रभवा उदन्त्याः । एवं च ते बहवः भूयांसः वैश्वामित्रा विश्वामित्रगोत्रजा दस्यूनां तस्कराणां मध्ये भूयिष्ठा अत्यधिकाः संजाताः ।

ततः मधुच्छन्दसस्तत्कनिष्ठानां च पञ्चाशतो वृत्तं वर्णयति--

स होवाच मधुच्छन्दाः पञ्चाशता सार्धं यन्नः पिता

T

संजानीते तस्मिंस्तिष्ठामहे वयम् । पुरस्त्वा सर्वे कुर्महे त्वामन्वञ्चो वयं स्मसीति ।

गाथया कथनम् । पञ्चाशता पञ्चाशत्संख्याकैः कनिष्ठैः सार्द्धं स मध्यमः मधुच्छन्दाः शुनःशेपम् उवाच–हे शुनःशेप नः अस्माकं पिता विश्वामित्रः यत् त्व ज्येष्ठपुत्रं संजानीते अङ्गीकरोति तस्मिन् अङ्गीकारे वयं तिष्ठामहे वयं तत् स्वीकुर्महे । सर्वे वयं त्वा त्वां पुरः अग्रेकुर्महे त्वां ज्येष्ठभ्रातरं मन्यामहे । वयं सर्वे त्वाम् अन्वञ्चः अनुगन्तारः स्मसि भवाम इति ।

अथ विश्वामित्रकृत्यं कथयति—

अथ ह विश्वामित्रः प्रतीतः पुत्रांस्तुष्टाव ।

अथ मधुच्छन्दसा सह सवः कनिष्ठपुत्र. शुनःशेपस्य ज्येष्ठत्वस्वीकारानन्तरम् विश्वामित्रः प्रतीतः तान् पुत्रान् अनुकूलान् ज्ञात्वा प्रसन्नः पुत्रान् मधुच्छन्दः प्रभृतीन् तुष्टाव गाथाभिः प्रशशंस ।

तत्र प्रथमा गाथा—

ते वै पुत्राः पशुमन्तो वीरवन्तो भविष्यथ ।
ये मानं मेऽनुगृह्णन्तो वीरवन्तमकर्त मा ॥

हे मधुच्छन्दःप्रमुखाः कनिष्ठपुत्रा ये यूयं मम मानं मतम् अनुगृह्णन्तः अनुकूलतया अङ्गीकुर्वाणा मा मां विश्वामित्रं वीरवन्तं मत्प्रतिज्ञापालनदृढशूरपुत्रवन्तम् अकुर्वत कृतवन्तः । ते वै तादृशा यूयं पुत्राः पशुमन्तः उत्तमगोमहिष्यादिपशुयुक्ता वीरवन्तः शूराज्ञाकारिसन्तानवन्तश्च भविष्यथ ।

द्वितीया—

पुर एत्रा वीरवन्तो देवरातेन गाथिनाः ।
सर्वे राध्याः स्थ पुत्रा एषवः सद्विवाचनम् ॥

T

हे गाथिना गाथिनशब्दो विश्वामित्रस्य पितुर्वाचकः । तत्पौत्रा मधुच्छन्दःप्रभृतयः पुरः भवतां सर्वेषाम् अग्रे एत्रा गन्त्रा प्रधानेन देवरातेन शुनःशेपेन सह सर्वे यूयं पुत्रा वीरवन्तः देशधर्मरक्षण-परश्रेष्ठसन्तानवन्तः राध्याः सर्वैः पुरुषैः पूज्याः स्थ भवत । एष देवरातश्च वः युष्माकं सद्विवाचनं सन्मार्गस्य प्रवक्तृत्वं करिष्यतीति शेषः ।

तृतीया—

एष वः कुशिका वीरो देवरातस्तमन्वित ।
युष्मांश्च दायं मउपेता विद्यां यासु च विद्मसि ॥

हे कुशिकाः कुशिकस्य मत्पितामहस्य प्रपौत्राः. वीरः प्राणत्याग-समयेऽपि अविक्लवः शूरः एष देवरातः वः युष्माकं ज्येष्ठभ्रातेतिशेषः । तं देवरातम् अन्वित यूयम् अनुवर्त्तध्वम् । युष्मान् मे मम दायं धनम् उपेता प्राप्स्यति । चकारात् देवरातं च यास्यति । अथ च वयं यासु यामपि विद्यां वेदशास्त्रधनुर्वेदादिरूपां विद्मसि जानीमः सापि भवतः सर्वान् प्राप्स्यतीति भावः ।

चतुर्थी—

ते सम्यञ्चो वैश्वामित्राः सर्वे साकं सरातयः ।
देवराताय तस्थिरे धृत्यै श्रैष्ठ्याय गाथिनाः ॥

हे वैश्वामित्राः विश्वामित्रस्य मम तनयाः, गाथिनः गाथिपौत्राः ते मम आज्ञापरिपालकाः सर्वे यूयं सम्यञ्चः समीचीनबुद्धयः यतः साकं देवरातेन सार्द्धं सरातयः रातिः धनसम्पत्तिः तया युक्ताः सन्तः देवराताय मया स्वीकृतस्य श्रेष्ठपुत्रस्य धृत्यै तुष्टिं धृतिं श्रैष्ठ्याय श्रेष्ठत्वं च तस्थिरे आस्थितवन्तः स्वीकृतवन्तः ।

पञ्चमी ।

अधीयत देवरातो रिक्थयोरुभयोर्ऋषिः ।
जह्नूनां चाधिपत्ये दैवे वेदे च गाथिनाम् ॥ इति ।

T

देवरातः शुनःशेपः उभयोः अजीगर्त्तविश्वामित्रयोः सम्बन्धिनी ये रिक्थे धने तयोः ऋषिः द्रष्टा तदुभययोग्य इत्यर्थः। द्व्यामुष्यायणत्वाद् उभयोः अपत्यत्वादिति भावः। जह्नूनां जह्नुः अजीगर्त्तस्य मूलभूतः कूटस्थ ऋषिः तद्वंशजन्यानां सर्वेषाम् आधिपत्ये स्वामित्वे देवरातः योग्य इति शेषः। किंच दैवे देवकर्मणि यागादौ वेदे मन्त्रादौ च समर्थः। अपिच गाथिनाम् मम पितृकुलोत्पन्नानां च आधिपत्ये तत्करणे प्रभुः।

उक्तोपाख्यानस्य उपसंहारः।

तदेतत्परऋक् शतगाथं शौनःशेपमाख्यानम्।

तद् एतद् पूर्वोक्तं शौनःशेपं शुनःशेपस्येदं शौनःशेपं शुनःशेपसम्बन्धि आख्यानम् वर्णनम्। कथम्भूतं परऋक्शतगाथम् ऋचां शतम् ऋक्शतं तस्मात् पराः परऋक्शताः ता गाथा यस्मिन् तत्। कस्यनूनं निधारयेत्यन्ताः सप्ताधिकनवतिसंख्या ऋचः शुनःशेपेन दृष्टाः, त्वं नः सत्वमित्यादयः तिस्रः अन्येनदृष्टाः, संकलय्य शतम्। परशब्दोऽधिकार्थवाचकः। तथाच ततोऽधिका एकत्रिंशद् गाथाविशेषा ब्राह्मणे प्रोक्ता यं न्विममितिप्रभृतयः। सर्वाभिः सहितं हरिश्चन्द्रोह वैधस इत्यादि शौनःशेपम् आख्यानमित्यर्थः।

एतस्य आख्यानवरिष्ठस्य राजसूयैकतौ विनियोगः।

तद्धोता राज्ञेऽभिषिक्तायाचष्टे।

तद् शौनःशेपमाख्यानं होता ऋग्वेदी अभिषिक्ताय राजसूये क्रतौ अभिषेचनीये कर्मणि कृताभिषेकाय राज्ञे आचष्टे कथयेत्।

तत्र इतिकर्त्तव्यता वर्णनम्—

हिरण्यकशिपावासीन आचष्टे हिरण्यकशिपावासीनः प्रतिगृणाति यशो वै हिरण्यं यशसैवैनं तत्समर्धयति।

T

होता हिरण्यकशिपौ हिरण्यैः सुवर्णनिर्मितसूत्रैः निर्मिते कशिपौ आसने आसीनः उपविष्टः आचष्टे तदुपाख्यानं कथयेत्। अध्वर्युः यजुर्वेदी तदुपाख्यानमध्ये हिरण्यकशिपौ आसीनः प्रतिगृणाति वक्ष्यमाणं प्रतिगरं ब्रुवीत। हिरण्यं सुवर्णं वै निश्चयेन यशः यशोहेतुतया यशः। तत् तथाकृते सति एनं राजानं यशसा एव समर्धयति समृद्धं करोति।

अध्वर्युवक्तव्यं प्रतिगरं निर्दिशति—

ओमित्यृचः प्रतिगर एवं तथेति गाथाया ओमिति वै दैवं तथेति मानुषं दैवेन चैवैनं तन्मानुषेण च पापादेनसः प्रमुञ्चति।

होत्रा प्रयुज्यमानाया ऋच एकैकस्या अन्ते अध्वर्युणा उच्चार्यमाण ओमिति शब्दः एवं तथा गाथाया अन्ते तथेति प्रतिगरः कथ्यते। ओमिति देवैरङ्गीकारार्थे प्रयुक्ततया दैवं तथा इति मानुषं मनुष्याङ्गीकारे प्रयुक्तं भवति। तत् तेन प्रतिगरेण दैवेन मानुषेण च अध्वर्युः एनं राजानम् पापाद् ऐहिकाद् अपकीर्तिरूपाद् एनसः आमुष्मिकाद् नरककारणाद् प्रमुञ्चति एव मुक्तमेव विधत्ते।

क्रत्वर्थमपि एतद् उपाख्यानं क्रतुनिरपेक्षपुरुषार्थं भवतीति विदधाति—

तस्माद् यो राजा विजिती स्यादप्ययजमान आख्यापयेतैवैतच्छौनःशेपमाख्यानं नहास्मिन्नल्पं च नैनः परिशिष्यते।

यस्मात् कारणाद् उपाख्यानमिदं पापप्रशमनं तस्माद् यो राजा विजिती विजितमनेन इति विजयी विजयं कृत्वा आगतः अयजमानः अपि राजसूयक्रतुविहीनोऽपि स्याद् भवेत् स यदि इदमाख्यानं शौनःशेपं ब्राह्मणद्वारा आख्यापयेत् वाचयेत्। तर्हि अस्मिन् श्रोतरि राजनि अल्पं च न किंचिदपि एनः पापं न परिशिष्यते न परिशिष्टं भवति सर्वं विनष्टं भवतीत्यर्थः।

T

आख्यानस्य दक्षिणां विदधाति—

सहस्रमाख्यात्रे दद्याच्छतं प्रतिगरित्र एते चैवासने श्वेतश्चाश्वतरीरथो होतुः ।

आख्यात्रे आख्यानकथयित्रे होत्रे राजा सहस्रं क्रत्वर्थदक्षिणातिरिक्तं गवां सहस्रं दद्यात् । प्रतिगरित्रे प्रतिगरोच्चारकाय अध्वर्यवे शतं गवां शतं दद्यात् । एते च आसने हिरण्यकशिपुरूपे आसनार्थं पूर्वम् उपकल्पिते ते ताभ्याम् एव वितरेत् । श्वेतः रजतालङ्काराच्छादितत्वाद् शुक्लः अश्वतरीभ्यां खच्चरीति लोके प्रसिद्धाभ्यां दृढशक्तिभ्यां युक्तः रथः अश्वतरीरथश्च होतुः होत्रे देयः ।

पुत्रकामनयापि श्रोतव्यमिदमुपाख्यानमित्याह—

पुत्रकामा हाप्याख्यापयेरलँ्लभन्ते ह पुत्राल्ँलभन्ते ह पुत्रान् ।

पुत्रकामा अपि पुत्रो मे भवत्विति वाञ्छन्तोऽपि आख्यापयेरन् ब्राह्मणाद् एतदुपाख्यानं शृणुयुरित्यर्थः । ते पुत्रान् लभन्ते प्राप्नुयुः। आवृत्तिः अध्यायसमाप्तिसूचिका ।

इति ऐत्तरेयब्राह्मणे साहित्यप्रधानाध्यापकमहादेव-
पाण्डेय विरचिते लघुदीपके षष्ठः खण्डः
त्रयस्त्रिंशोऽध्यायश्च समाप्तः ।



हिन्दी-व्याख्या

वेधस राजा के लड़के इक्ष्वाकु कुलोत्पन्न हरिश्चन्द्र नामक राजा थे। उन्हें कोई संतान न थी। उनकी सौ स्त्रियों में किसी को भी पुत्र नहीं था। उनके घर पर्वत और नारद दो ऋषियों ने निवास किया। राजा हरिश्चन्द्र ने नारद से पूछा "देवता और विवेकशील मनुष्य तथा विवेकहीन पशु सभी पुत्र की कामना करते हैं। आखिर पुत्र से क्या लाभ होता है? हे महर्षि मुझे बतलाइये"। एक गाथा से किये गये प्रश्न का उत्तर देवर्षि नारद ने दश गाथाओं से दिया।

प्रथमा गाथाः—उत्पन्न हुए पुत्र के मुखदर्शन से ही पिता इस लोकके ऋण तथा वैदिक ऋण को (वेदाध्ययन, यज्ञ, श्राद्धादि स्वरूप) उसमें अवस्थापित कर देता है। अर्थात् पुत्र, पिता को सभी प्रकार के ऋणों से मुक्त कर देता है।

द्वितीयाः—पृथ्वी में धन धान्य भवनादि जितने प्रकार के भोग हैं उन सबकी अपेक्षा अधिक भोग पिता को पुत्र द्वारा प्राप्त होता है अर्थात् पिता को आनन्दातिशय की प्राप्ति होती है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है:— "पुत्र की उत्पत्ति से अधिक सुख, और उसकी विपत्ति से अधिक दुख, पिता को दूसरा नहीं"।

तृतीयाः—पुत्र के उत्पन्न होने से पितर लोग अधिक से अधिक कष्टों (ऐहिक और पारलौकिक) को पार कर जाते हैं। (जैसा कि बौधायन ने कहा है "पुत् शब्द का अर्थ है नरक, 'नरक' दुख का ही दूसरा नाम है; उस दुख से रक्षा करने के कारण ही यहाँ और दूसरे लोक में भी पुत्र की अभिलाषा की जाती है)। पिता पुत्ररूप में (अपनी आत्मा होने के कारण) स्वयं उत्पन्न होता है। अतएव वह पुत्र इरावती (अन्नयुक्त नदी आदि) को पार कराने वाली नौकातुल्य है। अर्थात् जैसे नौका, नदी के पार जाने वाले पुरुषों के दुख को दूर करती है उसी प्रकार पुत्र स्वस्वरूप पिता को सब दुखों से पार करा देता है।

T

चतुर्थीः—पुत्र-सुख के आगे सभी आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वान-प्रस्थ, सन्यासाश्रम) के सुख तुच्छ हैं। अतः हे ब्राह्मण क्षत्रियादि पुरुष! तुम सभी पुत्र की इच्छा करो, क्योंकि उसमें अपूर्व सुख प्राप्त होता है। पुत्र अवदावद या अनिन्दनीय है। अर्थात् पुत्र सभी आश्रमों से श्रेष्ठ होने के कारण सबका वान्छनीय है। (मल= शुक्रशोणित सम्बन्ध के कारण गृहस्थाश्रम; अजिन= मृगचर्म, मृगचर्म से सम्बद्ध होने से अजिन का तात्पर्य है ब्रह्मचर्याश्रम; श्मश्रु= मूँछ, क्षौरकर्म न कराने के कारण बढ़ी मूछों से युक्त वानप्रस्थाश्रम का बोध होता है; तप= इन्द्रिय नियम युक्त सन्यासाश्रम लक्षित होता है)।

पञ्चमीः—अन्न प्राणस्थिति के कारण प्राणरूप ही है। वस्त्र शीत आतप की रक्षा करने वाला है। सुवर्ण रूप है, सौन्दर्य का साधक है। गोतुरगादि पशु वैवाहिक साधन होने के कारण विवाह स्वरूप हैं। पत्नी गृहस्थाश्रम में अत्यन्त अंतरंग होने के कारण पुरुष का मित्र है। परन्तु ये सभी किसी विशेष समयमें स्वल्पसुखकारी हैं। पुत्री माता पिता की दीनता का हेतु होती है परन्तु पुत्र (दुःखरूप अंधकार को दूर करने वाला) प्रकाशरूप है। उसके द्वारा पिता परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त कर लेता है। अस्तु पुत्र सर्वोत्तम है।

षष्ठीः—गर्भ के प्रति मातृस्वरूपा स्त्री में पुरुष जरठ होता हुआ भी पुनः नवीन बालक के आकार को प्राप्त कर दशम मास में उत्पन्न होता है। अर्थात् पुत्र पिता का ही एक नवीन स्वरूप है। पिता और पुत्र में भेद नहीं। (पिता के दो स्वरूप हैं, एक वर्तमान पुरुषाकार और दूसरा शुक्ररूप से गर्भाकार। जाया के भी दो स्वरूप हैं। एक पति के प्रति पत्नी और गर्भस्वरूप के प्रति माता। पति के शुक्ररूप से गर्भाकार को प्राप्त होने पर जो स्त्री पहले पत्नी के स्वरूप में थी वही गर्भ के प्रति माता बनती है)।

सप्तमीः—स्त्री तब जाया कही जाने योग्य होती है जब पति पुत्र रूप से उसमें उत्पन्न होता है। पत्नी भूति भी कही जाती है तथा इसे आभूत भी कहते हैं। इन सभी शब्दों का प्रयोग पत्नी के लिये होता

T

है। (जाया= जायते अस्यां सा जाया; भूति= पति पुत्र के रूप से जिस में उत्पन्न हो, आभूत= शुक्ररूप से आकर पति जिसमें पुत्ररूप से उत्पन्न हो)।

अष्टमीः—देव और ऋषि इस स्त्री-स्वरूप में अपने अपने तेज (सारभूत शुक्र) को पुत्रोत्पत्ति के लिये स्थापित करते हैं। अतएव देवों ने मानव सृष्टि कर उनसे कहा है कि यह स्त्री वर्तमान अवस्था में तुम्हारी जाया बनती हुई पुत्रोत्पत्ति काल में माता बनेगी।

नवमीः—पुत्रहीन को इस संसार का कोई सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इस बात को पशु भी जानते हैं। अर्थात् पुत्र सुख सर्वश्रेष्ठ, सर्वानुभवसिद्ध है। पशुओं में भी पुत्रोत्पत्ति की अधिक लालसा देखी जाती है। (हालाँ कि उनका सम्बन्ध अविवेक पूर्ण है)।

दशमीः—पुत्र सुखानुभवरूपी यह मार्ग शास्त्रज्ञ विद्वानों, राजाओं और मंत्रियों आदि से भी प्रशंसित है। अधिक सुख की प्राप्ति की इच्छा से इस मार्ग का सेवन बहुतों ने किया है। जिस पुत्र सुखानुभवरूपी मार्ग का अवलम्बन देव और मानव आदि पुत्रवान शोक रहित होकर करते हैं, उस पथ को पशु पक्षी भी पहचानते हैं। इसी कारण ये भी नाना प्रकार के व्यवहार करते रहते हैं। नारद जी ने इतना कहकर मौनावलम्बन किया।

॥ प्रथम खण्ड समाप्त ॥

पुत्र-जन्म के उपायः—

इसके बाद नारदजी ने राजा हरिश्चन्द्र से कहाः—"हे राजन्! वरुण राजा की प्रार्थना करो कि हे भगवन्! मुझे पुत्र उत्पन्न हो; उस पुत्र से मैं आपका यज्ञ करूँगा"। तदनन्तर हरिश्चन्द्र ने (नारदजी के उपदेश को ग्रहणकर) वरुण राजा की प्रार्थना की कि हे वरुण! मुझे पुत्र हो, उससे मैं आपका यज्ञ करूँगा। (वरुण ने प्रार्थना सुनकर) 'तुम्हें पुत्र हो' (तथास्तु) ऐसा वरदान दिया। (उस वर के प्रभाव से) राजा हरिश्चन्द्र को 'राहित' नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

T

(इसके बाद अनेक प्रकार से वरुण और हरिश्चन्द्र की उक्ति प्रत्युक्ति दिखलाई गई है)

(१) वरुण ने हरिश्चन्द्र से कहा—"हे राजन्! तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हो गया। अब इस पुत्र से मेरा यज्ञ करो"। हरिश्चन्द्र ने उत्तर दिया कि जब पशु के अशौच के दश दिन बीत जाते हैं तब वह पवित्र (याग के योग्य) होता है। इसके दश दिन जब पूरे होंगे तो मैं यज्ञ करूँगा, वरुण ने इसे मान लिया।

(२) वह पुत्र दश दिन का हो गया। वरुण ने राजा से फिर कहा कि अब तुम्हारा पुत्र दश दिन का हो गया इससे मेरा यजन करो। राजाः—जब पशु के दाँत जम जाते हैं तब (पूर्णाङ्ग होने के कारण) वह याग के योग्य होता है। अस्तु इसके दाँत उगने पर मैं यज्ञ करूँगा। (इस पर भी) वरुण ने तथास्तु कहा)।

(३) उसको दाँत पैदा हो गए। वरुण ने राजा से कहाः—"अब इसे दाँत भी हो गये, इससे मेरा यज्ञ करो"। राजा ने कहा—जब पशु के दाँत गिर जाते हैं तब वह मेध्य होता है। इसके दाँत गिर जाँय तब मैं आपका यज्ञ करूँगा। वरुण ने इसे भी स्वीकार कर लिया।

(४) उसके दाँत गिर जाने पर वरुण ने फिर कहा—इसके दाँत गिर गए अब मेरा यजन करो। राजा ने कहा कि जब पशु के दूसरे दाँत उत्पन्न होते हैं तब वह याग के योग्य (पवित्र) होता है। अस्तु इसके दाँत जब फिर से निकल आएँ तो मैं आपका यज्ञ करूँ। वरुण ने मान लिया

(५) इसके दूसरे दाँत भी निकल आए। वरुण ने पुनः कहा—'इसके दूसरे दाँत तो उत्पन्न हो गये अब मेरा याग करो'। तब राजा हरिश्चचन्द्र ने कहा कि क्षत्रिय जब सान्नाहुक (सैनिक वेष के योग्य धनुर्वाण कवचधारी) हो जाता है तब यागार्ह होता है। अतएव जब यह संनाह को प्राप्त कर ले तो मैं इससे आपका यज्ञ करूँ। वरुण ने यह भी स्वीकार किया।

T

(६) वरुण ने इसके संनाह प्राप्त कर लेने पर फिर आकर कहा—"राजन्! इसने संनाह को प्राप्त कर लिया अब इससे मेरा याग करो। राजा ने कहा कि मैं करूँगा। अपने लड़के से उन्होंने कहा कि:—हे तात! (यद्यपि यह शब्द बड़े के लिए कहा जाता है परन्तु प्रेमवश राजा ने इसका प्रयोग किया) वरुण ने ही (वरदान के रूप में) तुमको मुझे दिया है। परन्तु निर्दय मैं तुमको पशु बनाकर उनकी (वरुण की) प्रसन्नता के लिये यज्ञ करूँगा।

रोहित ने पिता के वाक्य को न मान, धनुष लेकर (अपनी रक्षा के लिए) जंगल का रास्ता लिया। वह लगातार एक वर्ष तक वन में घूमता रहा।

॥ द्वितीय खण्ड समाप्त ॥

रोहित के वन-निवास की अवस्था में हरिश्चन्द्र आदि ने क्या किया इसका वर्णन

इक्ष्वाकुगोत्रोत्पन्न राजा हरिश्चन्द्र को वरुण ने रोग रूप से पकड़ लिया। राजा को जलोदर का रोग हो गया। रोहित ने पिता के रोग वृत्तान्त को सुना। जंगल से गाँव की ओर लौट पड़ा। बीच राह में इन्द्र ने पुरुष रूप धारण कर उससे कहा—

(१) हे रोहित! (हमने नैतिक लोगों के मुख से सुना है कि—) अनाश्रान्त (परिश्रम न करने वाले, आलसी) पुरुष को सम्पत्ति नहीं मिलती अर्थात् इधर उधर परिभ्रमण करने वाले परिश्रान्त पुरुष को ही सम्पत्ति प्राप्त होती है। अच्छा भी पुरुष अपने बन्धुओं में आसक्त रहने के कारण (सदा एक जगह रहने वाला) पापी है अर्थात् उपेक्षा के योग्य हो जाता है। (जंगल में कोई साथी न मिलेगा ऐसा सन्देह न करो क्योंकि पर्यटनशील पुरुष का सहायक इन्द्र होता है। सारांश यह कि घर न जाकर इधर उधर घूमो फिरो)।

T

रोहित ने यह सोचकर कि ब्राह्मण ने मुझे बन में घूमने का ही उपदेश दिया है, दूसरा वर्ष भी जंगल में बिता दिया। तदनंतर घर की ओर बढ़ा। इन्द्र फिर उससे रास्ते में पुरुष वेश में मिले। उन्होंने उपदेश दियाः—

(२) पर्यटनशील पुरुष की जाँघें पुष्पिणी कही जाती हैं। (जैसे वृक्ष लता आदि पुष्प से युक्त होनेपर सेवनीय हो जाते हैं उसी प्रकार पुरुष की जाघें परिभ्रमण की श्रान्ति को सहन करने के कारण प्रशंसनीय हो जाती हैं।)

ऐसे पुरुष का आत्मा (देह का मध्य भाग) भविष्णु (वर्धनशील और आरोग्यादि फल से युक्त) होता है। अर्थात् जैसे बढ़ते हुए वृक्ष आदि समयानुसार सफल होते हैं उसी प्रकार परिश्रमी पुरुष की देह का मध्य भाग अन्न आदि के यथावत् परिपाक होने से बढ़ता है और आरोग्य बल परिपूर्ण होता है। पर्यटन शील पुरुष के सभी पाप प्रपथ (उत्तमतीर्थ मार्गादि की यात्रा करने से विनष्ट होकर सोते हुए के समान) हो जाते हैं। अर्थात् जैसे सोये हुए पुरुष किसी व्यापार के करने में समर्थ नहीं होते उसी प्रकार तीर्थादि की सेवा से उत्पन्न पुण्य के द्वारा पाप नष्ट होकर नरक आदि दुख देने में समर्थ नहीं होते। इसलिये तुम बन में पर्यटन करो (पिता के घर न जाओ)।

(३) रोहित ने सोचा कि ब्राह्मण ने बन में परिचरण करने को ही कहा है; इसलिए वह तीसरे वर्ष भी अरण्य में पर्यटन करता रहा। फ़िर जंगल से घर की ओर चला। (पुरुष वेषधारी) इन्द्र ने बीच रास्ते में ही उससे कहा—"बैठे हुए पुरुष का भाग्य बैठ जाता है; खड़े होने वाले का उठ खड़ा होता है। भूमि में सोते हुए का सोता है और पर्यटन करने वाले पुरुष का भाग्य प्रतिदिन बढ़ता जाता है। इसलिये तुम पर्यटन करो एक जगह न ठहरो।"

(४) रोहित ने फिर सोचा कि ब्राह्मण का उपदेश निरन्तर घूमते ही रहने का है; अतः उसका चौथा वर्ष भी बनमें ही बीता। बन

T

से घर की ओर चलने पर पूर्ववेश में पुनः इन्द्र ने कहा—सोनेवाला पुरुष कलियुग के तुल्य (निकृष्ट); नींद से उठा हुआ बगल बदलने वाला द्वापर के समान (मध्यम); पलंग छोड़े खड़ा त्रेता के सदृश (उत्कृष्ट); और पर्यटन करने वाला उद्योगी सतयुग के समान (सर्वोत्कृष्ट) होता है। निष्कर्ष यह कि पर्यटन सर्वोत्तम है अतः घूमते रहो।

(५) ब्राह्मण परिचरण ही का उपदेश देता है इसलिये पाँचवें वर्ष भी रोहित घूमता ही रहा। घर चला। पूर्ववत् इन्द्र ने कहा—घूमनेवाला व्यक्ति मधु स्वादिष्ट गूलर आदि का फल प्राप्त करता है। इस विषयमें भगवान् भास्कर दृष्टान्त हैं सूर्य कभी निन्द्रा नहीं लेते। सूर्य भ्रमणशील होने के कारण ही वन्द्य हैं)। इसलिये चलते रहो।

ब्राह्मण के उपदेश से छठें वर्ष भी रोहित ने जंगल की खाकछानी। उस सयय उसने सूयवस ऋषि के पुत्र अजीगर्त को अन्न के न मिलने से बुभुक्षा से पीड़ित अवस्था में पाया। अजीगर्त के तीन पुत्र थे—शुनःपुच्छ, शुनःशेप और शुनोलांगूल। उस (पुत्रवान्) ऋषि अजीगर्त से रोहित ने कहा: मैं तुम्हें सौ गायें दूँगा। मैं उन्हें देकर इन तीन लड़कों में से एक लड़के को (अपने को वरुण से मुक्त करने के लिये) लेना चाहता हूँ। (ऐसा कहने पर) अजीगर्त ने अपने ज्येष्ठ पुत्र का हाथ पकड़ खींचते हुए रोहितसे कहा कि इसे मैं नहीं दे सकता। माता ने (अत्यन्त प्रेमास्पद होने के कारण) कनिष्ठ पुत्र को पकड़ लिया। अन्ततोगत्वा माता-पिता दोनों ने मध्यम शुनः शेप को देना स्वीकार किया तब रोहित ने अजीगर्त को सौ गायें देकर शुनःशेप को ले घर की ओर प्रस्थानकिया।

रोहित ने आकर पिता से निवेदन किया:—तात! हर्ष की बात है कि मैं इस शुनःशेप रूपी मूल्य से अपने को वरुण से मुक्त कर लूँगा"। हरिश्चन्द्र ने राजा वरुण के पास पहुँच कर कहा कि हे वरुण! इस ब्राह्मण शुनःशेपसे आपका यज्ञ करूँगा। वरुणने स्वीकार कर कहा कि क्षत्रिय तुम्हारे लड़के रोहित से मुझको यह ब्राह्मण अधिक प्रिय है और

T

प्रसन्न होकर राजा को राजसूय यज्ञ करनेका उपदेश दिया। हरिश्चन्द्र ने अभिषेचनीय (एक दिन में सम्पन्न होने वाला सोमयाग जो राजसूय यज्ञ का एक अंग है) यज्ञ में पशुरूप से हवन करने का निश्चय किया।

॥ तृतीय खण्ड समाप्त ॥

हरिश्चन्द्र के यज्ञ में विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वशिष्ठ ब्रह्मा तथा अयास्य उद्गाता हुए। उपाकरण संस्कार से संस्कृत शुनःशेप के लिये नियोक्ता (यज्ञस्तम्भ (यूप) में बाँधनेवाला क्रूर पुरुष) नहीं मिला। (कुश के साथ पकड़ी की शाखा से मन्त्र द्वारा आचमन कर यज्ञ पशुको स्वीकार कर लेना 'उपाकरण' कहलाता है। यह अध्वर्यु का कर्तव्य है। तब सौयवसी अजीगर्त ने (शुनःशेप के पिता ने) कहा कि पहले दी गई सौ गौओं के अतिरिक्त और सौ मुझे मिले तों मैं ही इसे यूपमें बाँध दूँगा। उसे सौ गाये पुनः दी गईं और उसने नियोजन कर दिया। (रस्सी से कटि शिर और दोनों पैरों को बाँधकर उस रस्सी के अग्रभागको यज्ञस्तम्भमें बाँधना नियोजन कहलाता है)। उपाकरण, नियोजन, आप्रीडन, और पर्यग्निकरण किए गए उस शुनःशेप को मारनेवाला (विशसिता) कोई नहीं मिला; तब सौयमसी अजीगर्त ने कहा कि यदि आप मुझे और सौ गायें दें तो मैं इसका हनन कर सकता हूँ। उसे और सौ गायें दी गयीं, तब वह तलवार को तेज करता हुआ शुनःशेप के पास पहुँचा।

(पिता के पुत्र को मारने का उद्योग देखकर) शुनःशेप ने विचार किया कि ये सब क्रूर अमानुष पशु की भाँति मुझे मार डालेंगे; घोर कष्ट उपस्थित हुआ। अतः इस विपत्ति को दूर करने के लिये मैं देवों की शरण जाऊँ। ऐसा सोच शुनःशेप ने देवमुख्य प्रजापति की स्तुति "कस्य नूनं कतमस्यामृतानाम्" इस वेदमंत्र के द्वारा की। प्रजापति ने उससे कहा कि अग्नि सभी देवताओं से हविप्राप्त कराने के कारण अत्यन्त सन्निहित हैं अतः तुम उस अग्नि के पास जाओ। ऐसी सलाह पाकर शुनःशेप ने "अग्नेर्वयं" इस ऋचा से अग्निकी उपासना की। तब अग्नि

T

ने उससे कहा कि सविता सभी कार्यों में प्रेरणा करने के कारण सामर्थ्य-वान् हैं अतः उनके पास जाओ। तब उसने "अभित्वा देव सवितः" इत्यादि तीन मंत्रों से सविता का स्तवन किया। सविता ने आदेश दिया कि हे शुनःशेप तुम वरुण के लिये यूप में बाँधे गये हो इसलिये उन्हीं के पास जाओ। तब शुनःशेप ने इसके बाद की इकतीस ऋचाओं द्वारा वरुण की प्रार्थना की। तब वरुण ने उससे कहा कि तुम अग्नि के पास जाओ; यह अग्नि देवताओं के मुख हैं, अत्यन्त सुन्दर हृदय वाले हैं; तुमउन्हीं की स्तुति करो इसके अनन्तर हम तुम्हें मुक्त कर देंगे। वरुण के ऐसा कहने पर उसने इसके आगे की बाईस ऋचाओं से अग्नि की स्तुति की। अग्नि ने कहा कि तुम विश्वदेवोंकी स्तुति करो तब हम लोग तुम्हें छोड़ेंगे। तब उसने "नमो महद्भ्यः" इस ऋक् से विश्वदेवों की स्तुति की। विश्वदेवों ने कहा कि इन्द्र सब देवताओं में अधिक ओजस्वी हैं, बलवान् हैं, सहन करनेवाले हैं तथा अत्यन्त सुजन एवं प्रारम्भ किये कार्य को समाप्त करने वाले हैं। अतः तुम उनकी ही स्तुति करो। उसने "यच्चिद्धि सत्य सोमपाः" इत्यादि सात ऋचाओं के सूक्त से और उसके अग्रिम अध्याय के "इन्द्रमित्यादि" पन्द्रह ऋचाओं से इन्द्र की प्रार्थना की। शुनःशेप की स्तुति से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उसे मन से सुवर्णमय रथ दिया। उसने भी (इन्द्र के इस अनुग्रह को जानकर) पहले की पन्द्रह ऋचाओं से और उसके आगे की "शश्वदिन्द्र" आदि ऋचाओं से उस रथका मन से ही स्मरण किया। इन्द्र ने उससे कहा कि तुम अश्विनीकुमारों की स्तुति करो तब तुम्हें मुक्त करेंगे। उसने 'अश्विनावश्वावत्या' इत्यादि तीन ऋचाओं से अश्विनी कुमारों की स्तुति की। अश्विनीकुमारों ने उषस् की स्तुति करने की राय दी। उसने "कस्तौषः" इत्यादि तीन मंत्रों से उषस् की स्तुति की। उन तीन मन्त्रों की स्तुति के समय (क्रम से शुन;शेप का बन्धन छूटने लगा और अन्त में) सब छूट गया। ऐक्ष्वाक हरिश्चन्द्र का जलोदर रोग कम होने लगा और अन्तिम ऋचाका उच्चारण करने पर राजा सर्वथा रोग निर्मुक्तहो गये

॥ चतुर्थ खण्ड समाप्त ॥

T

(बन्धनमुक्त शुनःशेप का अग्रिम वृत्तान्त)

(देवों से अनुगृहीत शुनःशेप को देखकर विश्वामित्रादि) ऋत्विजों ने कहा कि हे शुनःशेप ! तुम्हीं इस अभिषेचनीय नामक सोमयाग की समाप्ति (सम्पादन) करो। इसके अनन्तर शुनःशेप ने (अभिषेचनीय याग के लिये) सरलता के साथ सोम रस निकालने के प्रकार का निश्चय किया। "यच्चिद्धित्वं गृहे गृहे" इन चार ऋचाओं से उस सोम को कूटा गया। इस सोम को "चम्वोरुभरः" इस ऋक् से द्रोण कलश में रखा गया। इसके बाद हरिश्चन्द्र जब शुनःशेप को स्पर्श कर रहे थे तब 'स्वाहा' शब्द से युक्त 'यत्रग्रावा' इत्यादि चार मन्त्रों से सोम का हवन किया गया। होम के अनन्तर इसको अवभृथ के स्थान पर पहुँचाकर "त्वन्नो अग्ने वरुणस्य विद्वान्" इत्यादि दो ऋचाओं से उस यज्ञ को सम्पन्न किया गया। बाद में इस आहवनीय अग्नि को "शुनश्चिच्छेपं" इस मंत्र द्वारा स्थापित किया गया।

अब शुनःशेप विश्वामित्र की गोद में आकर बैठ गया, अर्थात् उसने उनके पुत्रत्व को स्वीकार किया। सौयमसी अजीगर्त ने कहा कि हे ऋषि ! इस लड़के को पुनः मुझे दे दीजिए"। विश्वामित्र ने कहा कि देवों ने इस शुनःशेप को मुझे दिया है अतः मैं तुम्हें नहीं दे सकता। वह शुनःशेप देवताओं से दिये जाने के कारण देवरात नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज से विश्वामित्र का पुत्र हो गया। इस देवरात के कपिल और बभ्रुगोत्र में उत्पन्न सभी लोग बन्धु हो गये !

(शुनःशेप और अजीगर्त का संवाद)

(निराश) अजीगर्त ने शुनःशेप से कहा कि हे पुत्र ! तुम्हीं विश्वामित्र को छोड़कर मेरे घर चलो; तुम्हारी माता और मैं दोनों तुम्हें बुला रहे हैं। तुम जन्म से ही अंगिरस गोत्र के अजीगर्त के पुत्र और विद्वान् रूप से प्रसिद्ध हो। ब्रह्मादि से चले आते इस संतानक्रम का अतिक्रमण कर विश्वामित्र के पास न जाओ मेरे यहाँ आओ। तब शुनःशेप ने

T

कहा कि—हे अजीगर्त मुझे मारने के लिये हाथ में तलवार लिये तुमको सभी ने देखा है। ऐसा क्रूरकर्म तो शूद्रों में भी नहीं पाया जाता उसे तुमने किया। (ऐसे क्रूरकर्मा साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं)। हे अंगिरा के गोत्र वाले अजीगर्त तुमने मेरे निमित्त तीन सौ गायें भी ले ली हैं।

(तिरस्कृत और संतप्त) अजीगर्त ने कहा कि हे तात! जो नीच कर्म मैंने किया वह मुझको संतप्त कर रहा है। उस पापकर्म को मैं दूर करूँगा। ये तीन सौ गायें भी तुम्हें ही मिलें (बाकी दो भाइयों को नहीं)। शुनःशेप ने उत्तर दिया कि जो पुरुष एक बार दारुण कर्म कर लेता है वह उस अभ्यास से और भी पाप कर्म करता ही है। नीच जातियों के कर्मों से तुम अलग नहीं हो। तुमने ऐसा पाप किया है जिसका समाधान नहीं हो सकता।

(विश्वामित्र ने भी शुनःशेप की कही बातों का युक्तिपूर्वक समर्थन किया।) उन्होंने कहा कि सौयवसि अजीगर्त भयानक व्यक्ति है; यह तलवार से वध करना चाहता था; इसलिए हे शुनःशेप! तुम इस पापी का पुत्र न बनकर मेरा ही पुत्रत्व स्वीकार करो। तब शुनःशेप ने विश्वामित्र से कहा कि हे राजपुत्र! आप जन्मना क्षत्रिय होते हुए भी ब्राह्मण रूप से समझे जा रहे हैं; तो आप हमारे विषय में भी ऐसे प्रकार का निर्देश करें जिससे अंगिरा गोत्र का परित्याग कर आपके पुत्रत्व को प्राप्त करूँ। अर्थात् पहले क्षत्रिय होते हुए भी जिस प्रकार आपने तपोबल से अपने को ब्राह्मण बना लिया है उसी प्रकार अंगिरा गोत्रोत्पन्न मुझको वैश्वामित्र बनाइये। विश्वामित्र ने कहा कि तुम मेरे पुत्रों में ज्येष्ठ रहो और तुम्हारी संतति मेरे पुत्र आदि की सन्तति की अपेक्षा ज्येष्ठ रहेगी। देवता-प्रदत्त तुम मेरे पुत्रत्व के लाभ का उपभोग करो। उसी प्रकार मैं तुम्हारे साथ पुत्ररूप से व्यवहार करूँगा।

शुनःशेपने विश्वामित्र से कहा कि हे महर्षि! आपके सब लड़के मुझे ज्येष्ठ मानकर व्यवहार करें तो इस प्रकार मेरा और भाइयों के साथ

T

प्रेमातिशय होगा और सम्पत्ति के लिये भी स्थिति हो जायगी। हे भरत कुल-श्रेष्ठ! मैं जिस प्रकार से आपके पुत्रत्व को प्राप्त करूँ वैसा आप अपने पुत्रों के सामने अनुग्रह (व्यवहार) करें। इसके बाद विश्वामित्र ने अपने पुत्रों को बुलाया। मधुच्छन्द, ऋषभ, रेणु और अष्टक ये चार विश्वामित्र के प्रधान पुत्र थे। विश्वामित्र ने आदेश दिया कि तुम में से कोई भी भाई शुनःशेप से ज्येष्ठ नहीं रहेगा (अर्थात् तुम लोग छोटे और यह शुनःशेप सबसे ज्येष्ठ रहेगा)।

॥ पञ्चम खण्ड समाप्त ॥

विश्वामित्र के १०१ पुत्र थे। मधुच्छन्द से ५० बड़े और ५० छोटे थे। (उनमें मधुच्छन्द से जो पचास) बड़े थे उन्हें शुनःशेप का विश्वामित्र का पुत्र होना श्रेयस्कर नहीं प्रतीत हुआ। विश्वामित्र ने उनको लक्ष्य कर कहा (शाप दिया) कि तुम लोग चाण्डालादि नीच जाति के हो जाओ। यही विश्वामित्र के लड़के (शाप के कारण) अन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द, मूतिब इन पाँच जातियों के हो गए। वे उदन्त्य भी हुए। विश्वामित्र के गोत्रज (उनके बहुत से वर्ग) डाकुओं के बहुत से दल बन गए।

अपने से छोटे ५० (भाइयों) के साथ मधुच्छन्द ने शुनःशेप से कहा कि जब हमारे पिताने तुमको ज्येष्ठ पुत्र स्वीकार कर लिया है (तो हम भी तुम्हें जेठा (भाई) ही मानेंगे, हम लोग स्थिर हैं। हम सभी तुम्हारा अनुगमन करेंगे। विश्वामित्र ने उन लड़कों को अनुकूल जानकर उनकी प्रशंसा की।

(१) तुम लोगोंने मेरी बात का आदर करते हुए मुझे दृढ़शूर पुत्रवान् बनाया है इसलिए तुम्हें उत्तम गोमहिषी आदि पशुओं से युक्त वीर, आज्ञाकारी संतानें होगी।

(२) हे गाथि के पौत्र! तुम लोग सर्वाग्रगामी देवरात के साथ देश और धर्म की रक्षा करनेवाले श्रेष्ठ-संतान-युक्त बनो और सभी तुम्हारा

T

आदर करें। यह देवरात शुनःशेप तुम लोगों के सन्मार्ग का प्रवक्ता होगा।

(३) हे कुशिक के प्रपौत्र! यह वीर देवरात तुम्हारा जेठा भाई है इसका तुम अनुवर्तन करो। मेरा दायभाग (धन) तुम लोगों को मिलेगा और यह (देवरात) भी इसका भागी होगा। मैं जिन विद्याओं (वेदशास्त्र धनुर्वेदादि) को जानता हूँ वे भी तुम्हें मिलेंगो।

(४) हे गाथि के पौत्र! तुम सद्बुद्धिवाले हो क्योंकि तुम लोगों ने देवरात के साथ धन सम्पत्ति के भाग को स्वीकार किया, और जिसे मैंने ज्येष्ठ पुत्र माना है उसकी श्रेष्ठता और संतोष को तुमने भी मान लिया।

(५) देवरात शुनःशेप अब अजीगर्त और विश्वामित्र दोनों के रिक्थदाय का ऋषिद्रष्टा हुआ (क्योंकि वह दोनों का पुत्र हुआ)। जह्नु के (जो अजीगर्त में मूलभूत कूटस्थ ऋषि थे) सभी वंशजों का स्वामित्व करने योग्य देवरात हुआ और दैवकर्म (याग वेदमंत्रादि) में भी समर्थ हुआ।

(उपाख्यान का उपसंहार)

इस आख्यान का नाम (शुनःशेप सम्बन्धी होने के कारण) शौनःशेप है। इसे होता (ऋग्वेदी) राजसूय यज्ञ में अभिषेचनीय कर्म में, जिसका अभिषेक किया गया है ऐसे राजा को सुनावे।

(सुनाने का प्रकार)

वह होता स्वर्णनिर्मित सूत की बनी शय्या पर बैठकर इस उपाख्यान को कहें। अध्वर्यु (यजुर्वेदी) उस उपाख्यान को मध्य में सुवर्ण सूत्रनिर्मित शय्या पर बैठकर प्रतिगर का कथन करे। (सुवर्ण सबसे बढ़कर यश का साधन होने से यशरूप है।) अतः ऐसा करने से राजा को यश-सम्पन्न करता है।

T

(प्रतिगर का वर्णन)

होता द्वारा कहे जाते हुए ऋग्मन्त्रों के अन्त में अध्वर्यु जो 'ॐ' शब्द का उच्चारण करता है, एवं गाथा के अन्त में जो 'तथा' शब्द कहता है वही 'प्रतिगर' कहलाता है।

('ॐ' यह शब्द देवताओं के अंगीकार के अर्थ में प्रयुक्त होता है अतः दैव और 'तथा' शब्द मनुष्यों के अंगीकार में प्रयुक्त होता है इसलिए वह 'मानुष' कहा जाता है।) इन दोनों दैव और मानुष प्रतिगरों से अध्वर्यु उस राजा को ऐहिक (अपकीर्ति रूपी) पाप से और आमुष्मिक (नरक के साधन) पाप से मुक्त कर देता है। अर्थात् यह उपाख्यान पाप का प्रशमन करनेवाला है। अतः जो राजा शत्रु-विजय कर लौटे और राजसूय यज्ञ न भी करे वह भी इस शौनःशेप आख्यान को ब्राह्मण द्वारा बँचवावे; तो इस श्रोता राजा का कोई भी पाप नष्ट होने से नहीं बचता (वह सर्वथा पवित्र हो जाता है)।

राजा इस आख्यान के कहनेवाले (होता) को यज्ञ-दक्षिणा के अतिरिक्त हजार गौ की दक्षिणा दे तथा प्रतिगर का उच्चारण करने वाले (अध्वर्यु) को सौ गायें दे। सुवर्णासन भी इन्हीं का हुआ। दो अश्वतरी से युक्त रथ भी इन्हें दे।

पुत्र-प्राप्ति की अभिलाषा रखने वाले व्यक्ति भी इस आख्यान को ब्राह्मण से सुनें तो अवश्य पुत्र लाभ होगा।

॥ षष्ठ खण्ड समाप्त ॥

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

T

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri